अपनी बात

'मुसलमान ?' की रचना तीन वर्ष पहले हो गई थी। उस समय की परिस्थिति कुछ और थी। सन् '४२ की क्रान्ति में कुछ ऐसी बातें सामने आई जिनमे कुछ मुसलिम वृत्ति पर विचार करने का अवसर मिला। पाकिस्तान की बढती हुई भावना ने भी इस ओर अधिक अग्रसर किया। देखा तो ससार की गति विधि के साथ यहाँ का कुछ मेल नहीं खाता था। हिन्दू मुसलमान से अपरिचित और मुसलमान हिन्दू से अपरिचित हैं। पहले जो सघर्ष हिन्दू और तुरुक में था वह हिन्दू और मुसलमान का हो गया। देश का झगडा दीन का झगडा बन गया और जो दीन हृदय को मिलाने के लिये बना था वह एक ओर पड गया और आपस का सघर्ष बढ़ता गया। दुष्परिणाम सामने हैं। उपाय इस पुस्तक में है। पुस्तक में जो कुछ लिखा गया है स्पष्ट और सत्य के रूप में। इसमें 'मुसलमान' शब्द का व्यवहार निश्चित अर्थ में किया गया है। वह 'इसलाम' का अभिमानी नहीं। इसलाम के भक्त को इसमें सदा मुसलिम लिखा गया है। इसलाम के नाते ससार के सभी मुसलिम एक हैं और उन्हें एक रहना भी चाहिए। परन्तु देश के प्रति भी उनका कुछ कर्त्तव्य है। किस देश के मुसलमान किस प्रकार इसको व्यवहार में ला रहे हैं यह भी इसमें हैं। एक बात जो बहुत खटकती है वह है मुसलमान का इस देश से अनभिज्ञ होना। इसके कारण भी बहुत कुछ गडबडी मची है। [इस]में इसको भी लिखने का प्रयत्न किया गया है। सत्तर में २०० की नीति इसमें प्रत्यक्ष हो गई है। साथ ही यह भी दिखाया है कि वश का अभिमान भी इसलाम के प्रसार में बाधक रहा है यही के झगडे से भारत का ही नहीं स्वय इसलाम का भी किवा विभाजन हुआ है। साराश यह कि पुस्तक को सभी

त,
और उ
लता),
इसलाम
से शायद

प्रकार उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है। और विश्वास है कि जो शान्त चित्त से विषय में पैठने का श्रम करेगा उसे ऐसा दीपक हाथ लगेगा जो आज की झंझा में मार्ग-प्रदर्शन का कार्य करेगा। लिखने का ढंग अपना ही है इसलिये उदारता का कुछ अभाव दिखाई दे सकता है परन्तु अध्ययन के उपरान्त विश्वास हो जायगा कि चिपकी हुई आँख को खोलने में जल के साथ कुछ हाथ लगाने की आवश्यकता भी पड़ती है। इसमें भी बस इतनी ही कड़ाई है।

पुस्तक में परिशिष्टों की आवश्यकता है। वह अगले संस्करण में पूरी होगी अभी इतना ही पर्याप्त है। इसमें आये हुए व्यक्तियों के विषय में केवल इतना ही कहना है कि इसमें किसी भी ऐसे व्यक्ति की साखी नहीं दी गई है जो अपने क्षेत्र में प्रमाण न हो। बीते दिनों में 'हिन्दू' की स्थिति क्या थी इसका विचार ठीक से इसमें न हो सका, पर प्रसङ्ग वश इसका उल्लेख भी कुछ हो गया है।

आभार के बारे में भी कुछ कह देना है। संस्कृत का अनुवाद श्री पद्मा मिश्रा ने कर दिया जिससे अपना भार कुछ हलका हो गया। पुस्तक का प्रकाशन पखवारे में होना था, परन्तु दिसंबर ४९ में न हो सका। अब पुस्तक पखवारे में ही छप गई इसके लिये उन सभी सज्जनों का कृतज्ञ हूँ जिनका हाथ किसी न किसी रूप में लगा है। विशेष रूप से श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के उद्योग से शीघ्र छपा है। अतः उनका आभार भी है। 'जल्दी का काम शैतान का' इस न्याय के अनुसार कुछ शैतान का हाथ भी इसमें लग गया तो आश्चर्य क्या ?

शारदीय नवरात्र,
सं० २००४ वि०

चन्द्रबली पाण्डे

विषय-सूची

———

मुसलमान ?

"इससे पहले कि हम आगे बढ़ें एक नुक्ता (तथ्य) की तरफ इशारा करना जरूरी है। चूँकि हिन्दोस्तान में जो तुर्क व अफ़ग़ान व मुग़ल फातेह (विजेता) आए वह मुसलमान थे इसलिये उनकी तमाम कार-वाइयों का जिम्मेदार इसलाम समझा जाता है, हालाँ कि इस हक़ीकत (सचाई) से हम सबको वाकिफ (परिचित) होना चाहिए था कि तुर्क फातेह (विजेता) जो हिन्दोस्तान आए खास खास अफ़सरों या ओहदेदारों को छोड़ कर कौम की मजमूमी (सामूहिक) हैसियत से वह इसलाम के नुमाइन्दे (प्रतिनिधि) न थे और न उनके उसूले सल-तनत (राज्य-विधान) को इसलाम की तर्जे हुकूमत (शासन-प्रणाली) और उसूले फ़रमाँरवाई (शासन-व्यवस्था) से कोई मुनासिबत (अनुकू-लता) थी। उनके तुर्क अफसर ज्यादातर मत मुसलिम ग़ुलाम थे जिनको इसलाम की सुलह (सन्धि) व जंग (विग्रह) के क़वानीन (विधानों) से शायद वाक़फ़ियत (जानकारी) भी न थी।.........

"बरखिलाफ़ (विपरीत) इसके वह अरब फातेह (विजेता) जो एक सदी के अन्दर अन्दर एक तरफ़ शाम की सरहद (सीमा) अबूर (पार) करके मिस्र और शुमाली (उत्तरी) अफरीका के रास्ता से स्पेन तक पहुँच चुके थे और दूसरी तरफ़ इराक़ के रास्ता से ख़ुरासान तक व ईरान व तुर्किस्तान को तै करके एक सिम्त (दिशा) में काशगर और दूसरी सिम्त में सिन्ध तक फ़तह (विजय) कर चुके थे, वह लोग थे जिनमें इसलाम की तालीमात (शिक्षायें) जिन्दा (जीवित) थीं, इसलाम का कानूने जग (युद्ध-विधान) अमल (प्रयोग) में था, कहीं-कहीं अफ़सरों में बाज़ (कतिपय) ऐसे बुजुर्गवार (वयोवृद्ध) भी थे जिन्होंने पैग़म्बरे इसलाम (मोहम्मद साहब) की सोहबत (संगति) उठाई थी और ऐसे तो बक्सरत (बहुत) थे जिन्होंने सहाबा (रसूल के साथियों) का फ़ैज़ (विभव) उठाया था। इसलिये उनके तौर तरीक़ (रीति-नीति) उसूले हुकूमत (शासन-व्यवस्था) और तर्जे सलतनत (राज्य प्रणाली) बैरुन से आनेवाली कौमों से बिल्कुल मुख्तलिफ़ (विपरीत) थे।

"अरबों ने ख़ुलफाय राशदीन (सत्यनिष्ठ खलीफ़ों) और सहवाये कुर्राम (परम कृपालु साथियों) के जमाना में दौराने जंग (युद्ध काल) के इत्तफ़ाक़ी वाकआत (दैवी घटनाओं) को छोडकर जिन कौमों (जातियों) से मुआहदा (समझौता) किया या सुलह (सन्धि) की, उनकी इबादतगाहों (उपासनागृहों) को ठेस भी लगने न दी। ईरान के आतिशकदे (अग्नि-मन्दिर) वैसे ही रोशन (प्रज्वलित) रहे, फ़िलस्तीन व शाम और मिस्र व इराक के गिरजे जो बुतों और मुजस्सिमों (मूर्तियों) से पटे पड़े थे वैसे ही नाकूसों (शखों) की आवाजों से गूँजते रहे, हालाँ कि यह नव मुस्लिम तुर्क फ़ातेह उनसे ज्यादा दीन व मजहब के पुरजोश (ओजभरे) गाज़ी और शरीअत (शास्त्र) के सच्चे पैरोकार (प्रतिष्ठापक) न थे और न हो सकते थे।"—(अरब व हिन्द के ताल्लुकात, हिन्दुस्तानी एकाडमी, इलाहाबाद, सन् १९३० ई०, पृ० १८७–९२।)

मुसलिम साहित्य के मर्कांड पण्डित अल्लामा सैयद सुलेमान साहब नदवी ने जो कुछ कहा है उसका निष्कर्ष यह है कि हमें भारत के इतिहास पर विचार करते समय इस बात का बराबर ध्यान रखना चाहिए कि 'इसलाम' और 'तुर्क' दो बिल्कुल भिन्न वस्तुएँ हैं और इसलाम का जो लगाव अरब से है वह ईरान या तुर्किस्तान से कदापि नहीं। हम सैयद साहब के इस निष्कर्ष से सर्वथा सहमत हैं और उन्हीं की भांति यह कहना चाहते हैं कि किसी जाति के सभी कर्मों को कभी उसके धर्म के सिर नहीं मढ़ना चाहिए किन्तु फिर भी इस क्षेत्र में सैयद साहब से हमारा थोड़ा मतभेद है। सैयद साहब की उक्त खोज का अर्थ है कि 'इसलाम' और 'खैबर' को एक समझ लेने की भूल किसी मुसलिम ने नहीं की, यह तो हिन्दुस्तान अथवा अँगरेजों का अपराध है। निदान हमें देखना यह है कि इस भयंकर भूल का मूल कारण क्या है और क्यों आज मुसलमान शब्द का अर्थ कुछ और ही समझा जा रहा है।

भारत में इसलाम का प्रचार किस रूप में हुआ इस पर विचार करने की आवश्यकता नहीं। अरब और खैबर के 'फातेह' शासकों ने जो कुछ किया उसका धुँधला सा संकेत आपके सामने आ चुका है। इसलाम के पहले भी कभी अरब ने भारत के किसी भूभाग पर शासन किया, इसका पता नहीं। हाँ, इतिहास इस बात का साक्षी अवश्य है कि मुसलिम अरबों का शासन सिन्ध में अच्छा रहा और शेष हिन्दू राज्यों की भाँति उसका भी अन्त उन्हीं खैबरवाली जातियों ने किया। कहने का तात्पर्य यह कि ईरान-तूरान में इसलाम का प्रचार हो जाने के उपरान्त खैबर से जो मुसलिम दल देश में उतरा उसने पहले मुसलिम शासक पर हाथ साफ किया तो फिर हिन्दू राज्य पर। अतएव फातेह-मफतूह (विजयी और विजित) की दृष्टि से भारत में कभी मुसलिम-हिन्दू भेद नहीं हुआ, यह बात दूसरी है कि आज चारों ओर इसी का प्रचार हो रहा है कि मुसलमान फातेह और हिन्दू मफतूह हैं। एक राजा और दूसरी प्रजा है।

आजकल के अँगरेजी पढ़े लिखे पंडितों के इतिहास में मुसलमान और हिन्दू का भेद प्रत्यक्ष भले ही दिखाई दे परन्तु भारत के किसी प्राचीन लेख में इसका

प्रमाण न मिलेगा। तनिक सोचिए तो सही कि खैबर से आपका चिर-परिचित परम्परागत, सनातन सम्बन्ध क्या रहा है। यही न कि खैबर ने भारत को ध्वस्त किया, लूटा, और अन्त में अपने अधीन कर उस पर कठोर शासन किया। फिर खैबर का सारा दोष इसलाम के सिर क्यों मढ़ा जाता है? क्या महमूद गजनवी से लेकर अहमदशाह दुर्रानी तक सभी खैबरी आततायियों ने मुसलिम शासन का कचूमर नहीं निकाला? क्या उनकी तलवार की धार केवल हिन्दुओं की चोटी पर पड़ी और किसी भी पैगम्बरी आदमी को केवल इसलाम के नाते छोड़ दिया? उत्तर इतिहास की पोथियों में भरा पड़ा है और एक स्वर से 'नहीं' कह रहा है।

अच्छा, तो कुछ खैबर की पुरानी गाथा भी सुन लीजिए। स्वर्गीय डाक्टर काशी प्रसादजी जायसवाल का कहना है—

"म्लेच्छ लोग यहाँ शूद्रों में सबसे निम्नकोटि के कहे गए हैं। यहाँ हम पाठकों को मानव धर्म-शास्त्र तथा उन दूसरी स्मृतियों आदि का स्मरण करा देना चाहते हैं जिनमें भारत में रहनेवाले शकों को शूद्र कहा गया है। पतंजलि ने सन् १८० ई० पू० के लगभग इस बात का विवेचन किया था कि शक और यवन कौन हैं, और ये शक तथा यवन पतंजलि के समय में राजनीतिक दृष्टि से भारतवर्ष से निकाल दिए गए थे, परन्तु फिर भी उनमें से कुछ लोग इस देश में प्रजा के रूप में निवास करते थे। महाभारत में भी इस बात का विवेचन किया गया है कि ये शक तथा इन्हीं के समान जो दूसरे विदेशी लोग, भारतवर्ष में आकर बस गए थे और हिन्दू हो गए थे, उनकी क्या स्थिति थी और समाज में वे किस वर्ण में समझे जाते थे। प्रायः सभी आरंभिक आचार्य एक स्वर से शकों को शूद्र ही कहते हैं, और उन्हें हिन्दू आर्यों के साथ खानपान करने का अधिकार नहीं था। ये शासक शक लोग अपनी राजनीतिक और सामाजिक नीति के कारण राजनीतिक विरोधी और शत्रु समझे जाते थे और इसीलिये इन्हें भागवत में शूद्रों में भी निम्नतम कोटि का कहा गया है; और इस प्रकार वे अंत्यजों के समान माने गए हैं। और इसका कारण भी स्वयं भागवत में ही दिया हुआ है। वे लोग सनातन वैदिक रीति-नीति की उपेक्षा तो करते थे ही, पर साथ ही वे सामाजिक अत्याचार भी करते थे। उनकी प्रजा कुशनों की रीति-नीति का

पालन करने के लिये प्रोत्साहित अथवा विवश की जाती थी। वे लोग यह चाहते थे कि हमारी प्रजा हमारे ही आचार शास्त्र का अनुकरण करे और हमारे ही धार्मिक सिद्धान्त माने। इस सम्बन्ध में कहा गया है—

तन्नाथस्ते जनपदास्तच्छीलाचारवादिनः।*

राजनीतिक क्षेत्र में वे निरंतर आग्रहपूर्वक वही काम करते थे जो काम न करने के लिये शक क्षत्रप रुद्रदामन् से शपथपूर्वक प्रतिज्ञा कराई गई थी। जब रुद्रदामन् राजा निर्वाचित हुआ था, तब उसने शपथपूर्वक इस बात की प्रतिज्ञा की थी कि हिन्दू धर्म शास्त्रों में बतलाये हुए करों के अतिरिक्त मैं और कोई कर नहीं लगाऊँगा। भागवत और विष्णु पुराण में जो वर्णन मिलते हैं उनके अनुसार म्लेच्छ राजा अपनी ही जाति की रीति-नीति बरतते थे और प्रजा से गैरकानूनी कर वसूल करते थे। यथा—

प्रजास्ते भक्षयिष्यन्ति म्लेच्छा राजन्यरूपिण.।†

वे लोग गौओं की हत्या करते थे (उन दिनों गौएँ पवित्र मानी जाने लगी थीं, जैसा कि वाकाटक और गुप्त शिला-लेखों से प्रमाणित होता है) ब्राह्मणों की हत्या करते थे और दूसरों की स्त्रियाँ तथा धनसम्पत्ति हरण कर लेते थे।

स्त्रीबालगोद्विजघ्नाश्च परदाराधनाहृताः।×

उनका कभी अभिषेक नहीं होता था (अर्थात् हिन्दू धर्म शास्त्र के अनुसार वे कानून की दृष्टि से कभी राजा ही नहीं होते थे) उनके राज-वर्गों के लोग निरंतर एक दूसरे की हत्या करके विद्रोह करते रहते थे, 'हत्वा चैव परस्परम्' और

---

* उन राजाओं द्वारा शासित वे देश उन्हीं के शील तथा आचार को मानने वाले हैं।

† क्षत्रियरूपी वे म्लेच्छ प्रजा को त्रस्त करेंगे।

× स्त्री, बालक, गाय और ब्राह्मण को मारनेवाले तथा दूसरे की स्त्री और [illegible] हैं।

'उदितोदितवंशास्तु उदितास्तमितस्तथा'।✽ और उनके सम्बन्ध की ये सब बातें ऐसी हैं जिनका पता उनके सिक्कों से मुद्राशास्त्र के आचार्यों को पहले ही लग चुका है। —अन्धकार-युगीन भारत, ना० प्र० सभा काशी, सं० १९९४ वि०, पृ० ३३०-३३३।",

स्वर्गीय डाक्टर जायसवाल जैसे पुराविद् विद्वान् ने गैवर-शासन का जो परिचय दिया है वह वस्तुत: सैयद साहब को कहीं तक मान्य है इस पर विचार करने की आवश्यकता नहीं, इतिहास का बच्चा बच्चा उससे भली भाँति अभिज्ञ है। यह बात दूसरी है कि भारत को हिन्दू, मुसलिम और ब्रिटिश काल की फूटी दृष्टि से देखनेवाले पारसी इतिहास लेखक इस तथ्य को नहीं परख पाते और प्रमाद में आकर खैबर और इसलाम को एक ही समझ लेते हैं, नहीं तो वास्तव में इसलाम के पहले भी गैवर गैवर ही था और इसलाम के बाद भी गैवर खैबर ही रहा। आज हिन्दू मुसलिम द्वन्द्व के इस घोर युग में यह जान कर कितनी प्रसन्नता होती है कि इतिहास में कच्चा होने पर भी भारत इस क्षेत्र में सदैव यह मानने में पक्का रहा है कि वस्तुत: उसका वैरी इसलाम नहीं सर्वत: खैबर है। यही कारण है कि भारतवासियों ने कभी हिन्दू-मुसलिम का विवाद खड़ा नहीं किया प्रत्युत सदा उनके सामने हिन्दू-तुरुक का ही भेद बना रहा। भारत की किसी भी प्रशस्ति या शिलालेख को ले लीजिए सर्वत्र आपको 'म्लेच्छ', 'शक', 'यवन', 'पारसीक' और 'तुरुष्क' ही दिखाई देंगे, कहीं आपको मुसलिम या मुसलमान × का दर्शन न होगा।

✽ आपस में एक दूसरे का वध करके जिनमें कुछ वंश निरन्तर उत्कर्ष करने वाले हैं तथा कुछ उत्कर्ष के बाद अपकर्ष पर हैं।

× और तो और स्वयं मुसलमानों के संस्कृतशिलालेखों में भी मुसलमान शब्द का व्यवहार नहीं होता, वहाँ भी वही परम्परागत शक दिखाई देता है—

अस्ति कलियुगे राजा शकेन्द्रो वसुधाधिपः।
योगीनीपुरमास्थाय यो भुंक्ते सकलां महीम्॥

कारण इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि भारत सदा से उक्त जातियों की नीति से परिचित है और कभी भूल कर भी उनका दोष इसलाम के सिर नहीं थोपता ? इससे अच्छा भला और क्या होगा कि हम इन शब्दों के कतिपय प्रयोगों का पता दे अपने पक्ष को प्रत्यक्ष कर दें और फिर हिन्दू-मुसलमान की जोड़ी के विषय में भी कुछ जिज्ञासा कर लें। सबसे पहले हम म्लेच्छ शब्द को ही देख लें और फिर अन्य शब्दों की चिन्ता करें, क्योंकि इसी शब्द में घृणा का सब से अधिक वास है और इसी की महँक से लोग अधिक भड़कते भी हैं, हाँ, प्राय. यह कह दिया जाता है कि यदि मुसलमान काफिर कह कर हिन्दू की उपेक्षा करता है तो हिन्दू भी म्लेच्छ कह कर तुरुक की निन्दा। बात बिल्कुल ठीक है। तो भी यदि इन्हीं प्रयोगों पर ध्यान दें तो आप को राष्ट्रजीवन के घुन का यथार्थ बोध हो जाय और आप चाहें तो उससे मुक्त भी हो जायँ। यह तो बताने की बात नहीं कि 'म्लेच्छ' शब्द का किसी भी धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं। वह सर्वथा 'आचार' वाचक शब्द है। उधर 'काफिर' में यह बात नहीं। उसकी कसौटी धर्म वा इसलाम है। इसलाम का न माननेवाला काफिर है फिर चाहे वह जितना आचारवान हो। अस्तु काफिर की तोड़ का शब्द नास्तिक हो सकता है म्लेच्छ नहीं। म्लेच्छ की तो दुनिया ही और है। भला किसी मजहब से उसे क्या लेना है ? हाँ काफिर शब्द अवश्य ही धर्म को छोड़ नहीं सकता। वह सदा धर्म वा इसलाम की याद दिलाता और सबके सामने कुफ्र की कसौटी पेश करता है। निदान इस दृष्टि से

सर्वसागरपर्यन्ता वशी चक्रे नराधिपान्।
महमूदसुरत्राणो नाम्ना शूरोभिनन्दतु ॥*

—जल्लालखोजा के गोमठ (बरिहागढ़, दमोह) का शिलालेख सं० १३८५ वि०, ए० इं० भाग १२, पृ० ४४।

सुल्तान किस ठिकाने से 'सुरत्राण' बन गया है। है कहीं द्वेष की भावना ?

* शकों का स्वामी कलियुग में पृथिवीपति है। वह योगिनीपुर में समस्त पृथ्वी का भोग करता है, और उसने भूपतियों को वश में किया है। उस महमूद सुरत्राण नाम के [illegible] वृद्धि हो।

हम म्लेच्छ को उसी कोटि में नहीं रखते जिस कोटि में काफ़िर पहले से विराजमान है। अस्तु, 'म्लेच्छ' शब्द में जो घृणा है उसका इस्लाम से कोई लगाव नहीं।

हाँ, तो प्रसंग यह छिड़ा था कि भारतवासियों ने कभी लैबर और इस्लाम को एक नहीं किया प्रत्युत सदा उक्त आततायियों को जातिगत रूप में ही लिया। आप भारत के प्राचीन इतिहास में जिन शक, यवन, तुरुष्क आदि जातियों का आतङ्क देखेंगे उन्हीं के मध्यकाल अथवा मुसलमानों के आतंक युग में भी आप को किसी प्रशस्ति में यह न मिलेगा कि अमुक हिन्दू राजा ने अमुक मुसलिम सुलतान को पछाड़ा अथवा अमुक मुसलिम बादशाह ने अमुक हिन्दू सामन्त से अमुक सम्बन्ध जोड़ा। यहाँ तो सर्वत्र मुसलिम के स्थान पर शक, तुरुष्क, यवन और पारसीक प्रभृति परंपरागत शब्द ही दिखाई देंगे। इसका एकमात्र और अकेला कारण यह है कि भारत ने कभी इतिहास में धर्म और सम्प्रदाय को नहीं घुसेड़ा और न कभी राज्य विस्तार को स्वर्ग का साधन ही समझा। जब कभी सार्वभौम सत्ता का प्रश्न उसके सामने उपस्थित हुआ तब 'राजसूय' और 'अश्वमेध' की सूझी कुछ लूटपाट और प्रलय की नहीं। और तो और यहाँ के मुसलिम शासकों ने भी कभी गैबर और इस्लाम में एकता स्थापित न की और तुर्क-पठान-मेद को कायम रहने दिया। इसी का यह सुखद परिणाम है कि आज के इस घोर मुसलमानी युग में भी आपको गुलामवश, सैयदवश और लोदीवश आदि भिन्न भिन्न लैबरी वंशों के दर्शन हो जाते हैं, नहीं तो सरसैयदी कृपा से सर्वत्र 'मुसलमान' ही दिखाई देता न !

भारत की मध्य भूमि में यह लैबरी विष-बेलि कैसे फैल गई, इसका कुछ संकेत करने के पहले ही हमें यह दिखा देना है कि यहाँ की परम्परा क्या रही है और किस प्रकार यहाँ के 'तुरक' परदेशी शासक भी अपने को जातिगत रूप में ही समझने के अभ्यासी रहे हैं।

यह तो एक खुली बात है कि पुरानी प्रशस्तियों और शिलालेखों में बराबर 'शक', 'यवन', 'तुरुष्क' आदि शब्दों का व्यवहार पाया जाता है और मुसल्मानी (!) के घोर शासन में भी वैसा ही बना रहता है। तात्पर्य यह कि यदि शुद्ध भारतीय दृष्टि से भारत के इतिहास का अध्ययन करें तो चट जान लें कि भारत का

क्षयरोग कहाँ है और कहाँ से कब और कैसे हिन्दू-मुसलिम द्वन्द्व का सूत्रपात होता है।

कहने की बात नहीं कि हिन्दू-मुसलिम-द्वन्द्व अथवा मुसलमानी विचारधारा में महाराणा प्रताप और छत्रपति शिवाजी का मुख्य उल्लेख होता है और इन्हीं महानुभावों को 'साम्प्रदायिक' झगड़ों का मूल कारण भी बताया जाता है। निदान हम भी देखना चाहते हैं कि इनके यहाँ क्या है जो खैबरी लोगों को इतना भड़का रहा है।

सो, उदयपुर का राणा-वंश तो अपनी आन के लिये अत्यन्त प्रसिद्ध है। निदान उसकी प्रशस्तियों में कहा गया है—

आद्यक्रोडवपुः कृपालविलसद्दंष्ट्रांकुरो यः क्षणा-
न्मग्नामुद्धरति स्म गूर्जरमहीमुच्चैस्तुरुष्कार्णवात्।
तेज सिंहसुतः स एष समरः क्षोणीश्वरग्रामणी-
राधत्ते बलिकर्णयोर्धुरमिलागोले वदान्योऽधुना ॥*

—आबू का शिला-लेख, सं० १३४२ वि०; इं० ऐ० भाग १६, पृ० ३५०। तथा—

आजावमीसाहमसिप्रभावाज्जित्वा च हत्वा यवनानशेषान्।
य कोशजातं तुरगानसंख्यान्समानयत्तत्रा किलराजधानीम् ॥†

—शृंगी ऋषि का शिला-लेख, सं० १४८५ वि०; उदयपुर का इतिहास, ओझा, पृ० २५०।

---

* जिनका शरीर आदि वराह के समान है, जिनकी कृपाण में उस आदि-वराह की दंष्ट्राकुर का विलास है। जिन्होंने तुरुष्करूपी सागर में निमग्न गूर्जर पृथ्वी का उद्धार किया, वही राजाओं में अग्रगण्य और उदार तेजसिंह के पुत्र समर अब इस पृथ्वीतल पर बलि और कर्ण की धुरा धारण कर रहे हैं।

† अपनी तलवार के बल से अमीशाह को जीत तथा अशेष यवनों को मार जो क्षेत्रसिंह समस्त कोश और असंख्य घोड़ों को अपनी राजधानी में ले आए।

एव-त्यक्त्वा दीना दीनदीनाधिनाथा, दीना बद्धा येन सारंगपुर्यां।
यांपाः प्रौढा पारसीकाधिपाना, ता संख्यातुं नैव शक्नोति कोपि ॥*

—कुमलगढ की प्रशस्ति, सं० १५१७ वि; वही, ओझा, पृ० २५४-५।

और—गयातीर्थं व्यर्थीकृतकथापुराणस्मृतिपथं
शकैः करालोकैः करकटकनिर्यंत्रणमधात्।
मुमोचेदं भित्वा घनकनकटकैर्भरभुजा
महत्प्रत्यावृत्या निगडमिह लक्ष्क्षितिपतिः ॥†

—एकलिंग जी के दक्षिण द्वार की प्रशस्ति, स० १५४५ वि०, वही, पृ० ६०।

महाराणा प्रताप के पूर्वजों ने 'तुरुष्क', 'यवन', 'पारसीक' और 'शक' प्रभृति शब्दों का प्रयोग कर प्रत्यक्ष दिखा दिया कि उनका सम्पर्क इसलाम से नहीं, हाँ, खैबर से अवश्य है। अब इसी को राष्ट्रगौरव महाराणा प्रताप के मुँह से भी सुन लीजिए। प्रवाद है कि बीकानेर के राजा रायसिंह के छोटे भाई पृथ्वीराज के पत्र के उत्तर में महाराणा ने कहा था—

तुरक कहासी मुख पतौ, इण तन सू इक लिंग।
ऊगै जाही ऊगसी, प्राची बीच पतग॥

(विवरण के लिए देखिये ओझाजी का उदयपुर राज्य का इतिहास।)

तात्पर्य यह कि प्रताप कभी अकबर को बादशाह नहीं कह सकता। वह तो उसे सदा ही 'तुरुक' कहता रहेगा। यहाँ भी कहीं इसलाम की गन्ध नहीं है। हाँ, आक्रमणकारी का तुरुष्कपन अवश्य है।

---

* दीनों को छोड़, पारसीक राजाओं की दीन स्वामीवाली, प्रौढ़ और दीन जिन स्त्रियों को बंधन में डाला उन्हें कोई गिन नहीं सकता।

† क्रूरस्वरूप शकों ने जहाँ कथा, पुराण और स्मृति के मार्ग व्यर्थ कर दिए थे ऐसे गयातीर्थ में 'कर' की रोक लगाई थी। लक्षपति ने बन्धन तोड़ बहुत सा सुवर्ण देकर तीर्थ को करमुक्त किया।

महाराणा प्रताप पर फिर भी लोगों की कृपा है। विद्वेष का सारा कोप तो शिवाजी पर निकाला जाता है। उसीने तो हिन्दुत्व का झंडा खड़ा किया। पर उसकी भी लीला देख लें। राष्ट्रकवि भूषण का कथन है—

राखी हिंदुवानी हिंदुवान को तिलक राख्यो,
अस्मृति पुरान राखे वेद विधि सुनी मैं।
राखी रजपूती रजधानी राखी राजन की,
धरा में धरम राख्यो राख्यो गुन गुनी मैं।
'भूषन' सुकवि जीति हद्द मरहट्टन की,
देस देस कीरति बखानी तव सुनी मैं।
साहि के सपूत सिवराज समसेर तेरी,
दिल्ली-दल दाबि कै दिवाल राखी दुनी मैं॥

'राखी हिंदुवानी' का सार समझने के पहले 'दिल्ली-दल' को जान लीजिए। 'भूषण' कहते हैं—

वेद राखे विदित पुरान राखे सारयुत,
रामनाम राख्यो अति रसना सुघर मैं।
हिंदुन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की,
काँधे में जनेऊ राख्यो, माला राखी गर मैं।
मीडि राखे मुगल, मरोडि राखे पातसाह,
बैरी पीसि राखे, बरदान राख्यो कर मैं।
राजन की हद्द राखी तेगबल सिवराज,
देव राखे देवल स्वधर्म राख्यो घर मैं॥

'मीडि राखे मुगल, मरोडि राखे पातसाह' से स्पष्ट है कि शिवाजी ने हिन्दुत्व का झंडा खड़ा किया तो इसलाम के विरोध में नहीं, निश्चय ही 'मुगल' के विरोध में। और सो भी कैसे मुगल के विरोध में? तनिक इसे भी तो देखिए—

आदि की न जानो, देवी देवता न मानो, साँच
कहूँ को पिछानो, बात कहत हौं अब की।

बब्बर अकब्बर हिमायूँ हद बाँधि गए,
हिन्दू औ तुरुक की, कुरान बेद ढब की।
इन पातसाहन में हिन्दुन की चाह हुती,
जहाँगीर साहजहाँ साख पूरे तब की।
कासी हू की कला गई, मथुरा मसीत भई,
सिवाजी न होतो तो सुनति होती सब की।

'भूषण' ने एक ही छन्द में स्थिति को स्पष्ट कर दिया है। 'भूषण' देवी-देवता की दुहाई नहीं देते उन्हें तो 'साँच' से काम है। साँच को आँच कहाँ! अत 'भूषण' को भी किसी का भय नहीं। वह तो खरी कहते और साफ बताते हैं कि औरंगजेब का विरोध करना क्यों आवश्यक हो गया। भूषण ने स्थिति को स्पष्ट करने के लिये उसी के पूर्वजों को पकड़ा है और प्रत्यक्ष दिखा दिया है कि उनकी नीति क्या थी और किस प्रकार वे 'हिन्दू और तुरुक की' एवं 'कुरान बेद ढब की' की मर्यादा का पालन करते थे। कहने की बात नहीं कि भूषण ने 'हिन्दू औ तुरुक' में राजनीति का निर्देश किया है तो 'कुरान बेद' में धर्मनीति का संकेत। औरंगजेब के बापदादों ने किया यह था कि 'हिन्दू और तुरुक' को अलग अलग देखा था तो उनकी मर्यादा भी स्थापित कर दी थी और वेद तथा कुरान की सीमा भी अलग अलग निर्धारित कर दी थी, सारांश यह कि राजनीति को धर्मनीति का आसन नहीं दिया था। किन्तु उन्हीं के आत्मज क्रूर औरंगजेब से यह न हो सका। उसने कूटनीति के आधार पर हिन्दुत्व का विनाश करना चाहा और फलतः पूर्वजों की नीति को छोड़ कर राजनीति और धर्मनीति को एक ही में सान दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि दीन हिन्दुओं को अपनी रक्षा की सूझी और तुरत शिवाजी उनकी ओर से बोल उठा। शिवाजी 'दीवार' के लिये उठा था। वह 'मेंड' और 'मर्यादा' का पुजारी था, और था इसलाम तथा खैबर का पक्का मर्मज्ञ भी। तभी तो उसके शासन में—

पक्का मतो करि कै मलिच्छ मनसब छाँडि
मक्का के ही मिस उतरत दरियाव हैं।

इतिहास पुकार पुकार कर अक्षर अक्षर के मुँह से कह रहा है कि शिवाजी ने

कभी 'इसलाम' पर हाथ नहीं उठाया और फलतः कुरानमजीद को आदर की दृष्टि से देखा। उधर औरंगजेब ने इसलाम की पुकार पर ध्यान ही नहीं दिया, उलटे खैबर की प्रेरणा से—

खोदि डारे देवी-देव सहर महल्ला बाँके,
लाखन तुरुक कीन्हे छूट गई तब की।

औरंगजेब की इस तुरुष्क नीति को इसलाम का प्रसाद नहीं समझा गया। शिवाजी के उपरान्त भी हिन्दू अन्धे नहीं हुए। सदा की भाँति अपनी मर्यादा पर अड़े रहे। औरंगजेब के खैबरी अत्याचार से व्यथित हो, शिवाजी के सपूत सम्भाजी ने जयपुराधीश रामसिंह को पत्र लिखा, तो उसमें भी यही कहा कि हमें इस दुष्ट यवनाधिप से अपने धर्म की रक्षा करनी चाहिए और उसके स्थान पर उसके आत्मज उदार अकबर को स्थापित करना चाहिए; कुछ यह नहीं कहा कि मुसलमान को खदेड़ कर हिन्दू राज्य स्थापित करना चाहिए। कान खोल कर सुनिए और आँख खोल कर पढ़िए तो पता चले कि तथ्य क्या है, और किस प्रकार वह विकृत कर भाँति भाँति से खैबरी लोगों में फैलाया जा रहा है। अच्छा, तो श्री शम्भुजी का कहना है—

तर्हि श्रीमद्भिर्धैर्यावष्टंभेन यत्कर्तव्य तदवश्यं विधेयं पठाणाधिपः शहा आयास नामकैः अकबरस्यागीकारपूर्वकं पत्रं प्रेषितं तथापि यवनस्यैतादृशं यशोऽदेयमिति अनुचितमिति यथा श्रीमद्भिरपि अक्बर साहाय्येन यशो ग्राह्यं हिन्दुस्थानस्यैते सुरत्राणाः एतत्स्थापने यदनाश्चेन्मुख्यास्तदा तेषामेव प्राधान्यं स्यात् अतस्तद्व्यतिरेकेण स्वभिर्भवद्भिश्चाकबरः सुरत्राणो विधेयस्तेन स्वधर्मरक्षणं भविष्यति भवता च महाराजजयसिंहवंशशोभविता।*

—एवाल्यूम ऑव स्टडीज इन इंडोलॉजी, ओरियंटल बुक एजेंसी पूना, सन् १९४१ ई०, पृ० ३९७।

---

* आपको धैर्य धारण कर कर्तव्य अवश्य करना चाहिए। अकबर को अगीकार करते हुए अब्बास ने पत्र भेजा है, तो भी यवन को ऐसा यश देना [illegible]

सम्भाजी के प्रकृत पत्र को पढ़ कर कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता। शिवाजी के उपरान्त सम्भाजी हिन्दू राष्ट्र का स्वप्न देख रहा था। इसमें सम्भाजी का पक्ष इतना प्रखर और प्रकट हो गया है कि फिर उसके सम्बन्ध कुछ पूछने-ताछने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। ध्यान देने की बात है कि सम्भाजी रामसिंह से 'स्वधर्मरक्षण' का ही नाम लेता है और यवनाधम की गद्दी उसी के उदार अधिकारी को देना चाहता है। क्या यह सब होने हुए भी आज विद्वानों को यही कहना शोभा देता है कि हिन्दू मुसलिम द्वन्द्व का श्रीगणेश शिवाजी से हुआ। हम मुसल्मान विद्वानों की बात नहीं चलाते पर राष्ट्र के सत्यनिष्ठ देवताओं से तो प्रार्थना अवश्य करते हैं कि कृपा कर कल्पना को इतिहास बनाना छोड़ दें और द्वन्द्व की जड़ का समूल नाश करें।

एक बात और है। सम्भाजी ने इसी पत्र में अन्यत्र लिखा है—

तर्हि प्रकृतविषये श्रीमद्भिर्मुख्यतामवलंब्यैतस्य यवनाधमस्य साम्प्रतं सकलहिन्दूकाः सत्त्वशून्याः श्रीप्रासादभङ्गादिधर्मोपप्लवेपि स्वधर्मरक्षणाक्षमाः स्वधर्महीना इति मन्यमानस्योत्कर्षं तथा क्षत्रियशब्दाभिधेयविपर्ययं तथा श्रुतिस्मृतिसिद्धवर्णाश्रमधर्मप्रजापालरूपराजधर्मविप्रवचा सहिष्णवः स्वकोशदेशदुर्गादिषु विधृतानादरा दुष्टयवनाधिपप्रतिद्वद्वितायैवाकबरदुर्गा दासौ वर्षद्वयपर्यन्त स्वदेशे स्थापितौ।* —वही।

है। आप भी अकबर की सहायता कर यश के भागी हों। ये हिन्दुस्थान के सुरत्राण हैं। इनकी स्थापना में अगर यवन मुख्य रहे तो उनकी ही प्रधानता रहेगी। इसलिए उनसे बढ़कर हमें और आपको अकबर को सुल्तान बनाना चाहिए इससे अपने धर्म की रक्षा होगी और आपकी व महाराज जयसिंह के वंश की कीर्ति।

* इस प्रकृत विषय में आपके द्वारा प्रधानता का अवलम्बन कर इस नीच यवन की—जो यह समझता है कि सब हिन्दू बलहीन हैं, मन्दिर तोड़ने आदि के उपद्रव होने पर भी अपने धर्म की रक्षा में असमर्थ हैं और स्वधर्महीन हैं—की उन्नति को तथा श्रुति, स्मृति, सिद्ध, वर्णाश्रम धर्म और प्रजापालनरूपी राजधर्म के विप्लव को न सह कर अपने कोश, देश और दुर्ग आदि की उपेक्षा स्वीकार कर

'सकलहिन्दूकाः' में हिन्दू का अर्थ क्या है? वही न जो आज भारत में समझा जाता है और मुसल्मान के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में अंकित किया जाता है? पर इसका मूल संकेत तो कुछ और ही है। अमरीका, फ्रांस, अरब प्रभृति प्रदेशों में तो यहाँ के मुसलमान भी हिन्दू ही कहे जाते हैं। तो क्या फिर इस हिन्दू के अर्थ परिवर्तन का भी कुछ रहस्य है? जी हाँ, बड़ा ही करुण, मर्मभेदी और शिक्षाप्रद। सुनिए। एक दिन था कि यहाँ हिन्दू-तुरुक-संघर्ष चल रहा था, फिर एक दिन आया कि तुरुक मुसल्मान हो गए। तुरुकों ने अपना सिक्का जमाने के लिये हिन्दुओं को तोड़ना शुरू किया और जब उन्हें इसलाम में दीक्षित बना लिया तब इन्हें पक्का तुरुकपन का पाठ पढ़ाने लगे, परंतु तो भी तब तक उनको इस क्षेत्र में पूरी सफलता न मिली जब तक इनको अपने देश का अभिमान रहा। अन्त में अंगरेज आए, उनका सिक्का जमा और सभी मुसलमान खासे तुरुक बन गए। अब हिन्दू का अर्थ हो गया मुसलमान का प्रतिद्वन्द्वी अर्थात् धर्मबोधक संकेत। भारत के नव-मुसलिम अब हिन्दू या हिन्दुस्तानी नहीं रह गए, अब तो हिन्दू और हिन्दुस्तानी का अर्थ हो गया भारत का अमुसलिम निवासी। किन्तु कभी न जाने किस दैवी प्रेरणा से प्रेरित होकर सर सैयद अहमद खाँ बहादुर ने कहा था—

मैं इन दोनों कौमों को जो हिन्दोस्तान में आबाद हैं एक लफ्ज से ताबीर (सम्बोधित) करता हूँ कि 'हिन्दू' याने हिन्दोस्तान की रहने वाली कौम।

—हयात जावेद, अंजुमने तरक्कीए उर्दू, दिल्ली, सन् १९३९ ई०, द्वि० भाग, पृ० ४८९।

पर उनकी यह हिन्दू व्याख्या टिकाऊ न थी। वह उन्हीं के मुँह से निकली और उन्हीं के कान में गूँज कर ऐसी समाई कि फिर कहीं किसी को सुन न पड़ी। हाँ, उनकी जीवनी 'हयात जावेद' में इतना अवश्य दिखाई दिया कि वहाँ हिन्दोस्तानी का अर्थ भी हिन्दू हो गया। देखते ही देखते हिन्दुस्तान के सभी मुसल्मान

दुष्ट यवनाधीश की प्रतिद्वन्द्विता से ही अकबर और दुर्गादास को दो वर्ष अपने देश में रक्खा।

कान झार कर हिन्दुस्तान से बाहर हो गए और 'हिन्दोस्तानी' का अर्थ हो गया हिन्दू धर्मावलम्बी हिन्दू। तनिक देखिए तो सही, मौलाना हाली किस तपाक से क्या फरमाते हैं; बात सन् १८५७ ई० की क्रान्ति के बाद की है—

गवर्नमेंट ने मुसलमानों को अपना मुख़ालिफ़ (विरोधी) ख्याल कर लिया था और ऐसा ख्याल करने के असबाब (कारण) पहले ही से मौजूद थे। अंगरेज हिन्दोस्तानियों की आदत (टेव), तबीअत (वृत्ति) और तर्जे ख़यालात (विचार-परम्परा) से नावाक़िफ़ (अनभिज्ञ) थे। मुल्क की हुकूमत उन्होंने मुसलमानों से ली थी और उन्हीं को वह अपना हरीफ़ (प्रतिद्वंद्वी) और सल्तनत का मुद्दई (वादी) समझते थे और बदक़िस्मती (दुर्भाग्य) से बक़ौल (कथनानुसार) सर सैयद भुसभरी हुई मुर्दा लाश दिल्ली में मौजूद थी। मुसलमानों के मजहबी तआस्सुब (विद्वेष) की शुहरत (ख्याति) थी। —वही प्रथम भाग, पृ० ७६।

इतने पर भी—

हिन्दोस्तानी खैरख्वाहिये (शुभचिन्ता) सरकार की आड़ में मुसलमानों से दिल खोल खोल कर बदले ले रहे थे और अगले पिछले बुग्ज (वैर) निकाल रहे थे। —वही, पृ० ७६।

श्री सर सैयद अहमद खाँ बहादुर ने मुसलमानों के लिये जो कुछ किया उसके लिये उनकी जीवनी 'हयात जावेद' का अध्ययन करें और यहाँ इतना टाँक लें कि जो आप राष्ट्र के अभिमान में आकर प्रायः कह बैठते हैं कि 'मैं पहले हिन्दुस्तानी हूँ और फिर हिन्दू' वास्तव में उसका कोई अर्थ नहीं; क्योंकि अंगरेज के यहाँ हिन्दू और हिन्दुस्तानी में भेद हो सकता है पर मुसलमान के यहाँ दोनों का अर्थ एक ही है। आज कितने हिन्दी मुसलमान अपने आप को 'हिन्दुस्तानी' कहने को तैयार हैं? नहीं, आज मुसलमान का संकेत ही हो गया है जो इस देश का रहने वाला नहीं है। फिर उससे देश-द्रोह नहीं तो और क्या होगा? किसी परदेशी का देशप्रेम कैसा? किन्तु क्या यही सच्चा इसलाम और पक्का मुसल्मान है?

मुसलमान की देन ?

हिन्दू तो आज यह शिकायत कर रहे हैं कि मुसलमानों ने हिन्दुस्तान में आकर मुल्क को तबाह कर दिया, लेकिन इन कोताहनजरो (छुद्र-दृष्टियों) को मालूम नहीं कि मुसलमानो ने हिन्दुस्तान की उफताद (बजर, परती) जमीन को चमनजार (हरीभरी फुलवारी) बना दिया था। दुनिया जानती है कि हिन्दू पहले पत्तों पर रखकर खाना खाते थे, नगे पॉव रहते थे, जमीन पर सोते थे, बिनसिले कपडे पहनते थे, तग मकानो मे बसर (निर्वाह) करते थे। मुसलमानो ने आकर उनको खाने पीने, रहने-सहने, वजा लिबास (प्रसाधन), फर्श फरोश जेब व जीनत (सिंगार-पटार) का सलीका (ढग) सिखलाया। लेकिन यह मौका इस मजमून (विषय) को फैलाने का नहीं। अलबत्ता यह बात यहाँ जानने के काबिल है कि बावजूद (अतिरिक्त) इसके कि हिन्दुस्तान जराअती (खेतिहर) मुल्क है, जितने उम्दा किस्म के फल और मेवे हैं, सब मुसलमानों के लाये हुए हैं। सेव, नाशपाती अगूर, खरबुजा, सन्तरे वगैरह का यहाँ नाम व निशान भी न था। इन चीजों में से

खरबुजा की पैदावर का फख्र खानखानान को हासिल है। मुसन्निफ 'मासर रहीमी' लिखता है कि 'हिन्दुस्तान में खरबुजा नहीं होता था, ईरान और खुरासान से आता था। सबसे पहले खानखानान ने ईराक और खुरासान से तुख्म (बीज) मँगवाये और बलकवारा इलाका गुजरात में आवहवा की मुनासिबत के लिहाज से एक किता (टुकड़ा) इन्तखाब (चुनाव) करके उसकी काश्त करायी। दो तीन साल में ऐसे अच्छे खरबुजे पैदा होने लगे कि विलायत की बराबरी करते थे।

—मकालात शिबली, अनवार प्रेस, लखनऊ, पृ० १६८।

'दारुल मुसन्नफीन' के संस्थापक स्वर्गीय अल्लामा शिबली नोमानी ने जिस 'मजमून को फैलाने' से अपना हाथ रोका है, वह अभी तक भली-भाँति फैल न सका। उनके परमप्रशंसित शिष्य अल्लामा सुलैमान नदवी भी उसी पटरी पर दौड़ लगाते हैं और बड़े भाव से कह जाते हैं—

जिराअत (खेती) हिन्दुस्तान का पेशा था। मुसलमानों ने आकर इस पेशा को फन की हैसियत में जो तरक्की दी, उसकी तफसील (विवरण) का यह मौका नहीं। मुख्तसर (संक्षेप में) इतना कहना है कि काबुल, तुर्किस्तान और ईरान के बीमीयो मेवे और फल वह हिन्दुस्तान लाये और उनके साथ-साथ उनके नाम भी आये और यह सारे हिन्दुस्तान में हर बोली बोलनेवालों की जबानों पर वईनही (ठीक वही) चढ़ गये। अंगूर, अनार, सेब, बिही, अंजीर, नारंगी, खरबूजा, तरबूजा, बादाम, मुनक्का, किशमिश, पिस्ता, शफ़तालू, नाशपाती, आबजोश, खूबानी, चिलगोजा के मजों से अहल हिन्द ऐसे मानूस (अभिज्ञ) हुए कि इन फलों के साथ-साथ उनके नामों से भी अपनी जबान को नयी लज्जत बख्शी।

—नुकूशे सुलैमानी, पृ० २७–२८।

अल्लामा सैयद सुलैमान साहब खूब जानते हैं कि इसलाम के पहले भी ये मेवे और ये फल 'काबुल, तुर्किस्तान और ईरान' में होते थे और यदि क्षमा करें तो इतना और भी जोड़ दें कि ये देश हिन्दुस्थानियों के लिए अजीब न थे। काबुल

में १० वीं शती तक हिन्दू शासन था और तुर्किस्तान तथा ईरान में लाखों बौद्ध थे, जो प्रतिवर्ष भारत की तीर्थ-यात्रा करते अथवा यहाँ भिक्षुओं से निर्वाण का पाठ पढ़ते थे, फिर भी उनकी मुसलमानी दृष्टि में यह बात नहीं धँसती कि उनके साथ यहाँ के उक्त मेवे और फल भी आते ही रहते होंगे। पर नहीं, उनको तो ले-दे के बस यही सिद्ध करना है कि इस देश में जो कुछ भला है, सब उन्हीं की देन है, हमारी अपनी कुछ भी नहीं, कोई चीज नहीं।

'अच्छा, तो सैयद सुलैमान नदवी न सही, उनके उस्ताद अल्लामा शिबली नोमानी ने तो 'खरबुजा' को फैलाया है और उसकी उपज का श्रेय खानखानान को दिया है। पर क्या यह सचमुच सच भी है? सुनिये 'तिमूर' वंश का 'बादशाह' बाबर स्वयं कहता है—

दूसरे दिन जुमा को मुहम्मद बख्शी और उमरा ने हाजिर होकर मुलाजमत (नौकरी) हासिल की। जहर के करीब जमना (यमुना) से पार हो ख्वाजा अब्दुल हक़ से मैं मिला। किला में गया और सब बेगमों से मिला। तलही (कौतुकी) पालीजकार (कोइरी, माली) को खरबूजे बोने के लिए हुक्म दे गया था। उसने कुछ खरबूजे बचा रखे थे। हाजिर किये, अच्छे खरबूजे थे। दो एक पौदे अंगूर के बाग हस्तबिहिस्त (स्वर्गवाटिका का नाम है) में लगवाये थे। उसमें भी अच्छे अंगूर लगे। शेख घूरन ने अंगूरों का एक टोकरा भेजा। मुलाहज़ा से गुजरा। हिन्दोस्तान में ऐसे अंगूर और खरबूजे होने से दिल खुश हुआ।

—तरजमा तुजुक बाबरी, उर्दू, शाहजादा मिरजा नसीरउद्दीन हैदर साहब, मु० प्रिंटिंग वर्क्स, १६२४ ई०, पृ० ३६२।

बादशाह बाबर की साखी पर विचार करने के पहले ही इतना और भी जान लें कि उसकी दृष्टि में यहाँ "अंगूर, खरबूजा और मेवे अच्छे नहीं होते।" (वही, पृ० २८६)। काबुल के प्रसंग में उसी का कहना है—

यहाँ खरबूजा भी अच्छा नहीं होता। अगर ख़ुरासानी तुख्म बोया जाता है तो किसी क़दर बुरा नहीं होता। --वही, पृ० १३२।

कहने का तात्पर्य यह कि अरबी खुरासानी खरबूजा न सही, पर सामान्य हिन्दुस्थानी खरबूजा तो बाबर से पहले भी हिन्दुस्थान में होता था। खरबूजा का नाम कब से हिन्दुस्थान में चल निकला, इसका पता नहीं, पर हिन्दी कवि सूरदास ने इसका प्रयोग किया है—

"छोलि धरे खरबूजा केरा, सीतल बास करत अति घेरा।
खरीक, दाख अरु गरी चिरारी, पिंड खदाम लेहु बनवारी॥"

—सूरसागर, सभा संस्करण, १०, १४।

संस्कृत साहित्य में भी आज से लगभग ढाई सौ वर्ष पहले इसका उल्लेख मिलता है। श्रीहंसमिट्ठु लिखते हैं—

अथ राजिका-रजनी-कुस्तुम्बरी-सैन्धव-दिरवजीरक-वाह्लीक-वेल्ल-जादिभिर्वासितानि¹ सन्धानानि, पायस, पूरिकाः, वटकाः, पर्पटाः, सेव (गोधूमश्लक्ष्णपिष्टतन्तुजनितं), पिण्डाः, लड्डुकाः, पोलिका, भक्तः, सूपाः, क्षीरं, दधि, हैयङ्गवीनं, कदलीफलानि, आम्राणि, राजीफलानि, जम्बूपनसखर्बूजादीनि च तत्तदृतुजातानि नानाफलानि नालिकेराणि च॥

—हंसविलास, गा० ओ० सी० नं० ८१, पृ० २८८।

'खर्बूजादीनि' से श्रीहंसमिट्ठु का क्या अभिप्राय है इससे कोई प्रयोजन नहीं। बताना तो यहाँ यह है कि विलायती, नहीं नहीं, मुसलमानी खरबूजा, (यदि 'पे' इसलाम में हो) भी यहाँ की देववाणी में व्यवहृत हो गया है और आज मुसलमानों की कृपा से खरबूजा सबकी जबान पर चढ़ा है, किन्तु संस्कृत वाङ्मय

१—"राई, हल्दी, कुस्तुम्बरी (कस्तुम्बुरु-धान्याक—धनिया]) नमक, विरक, जीरा, हींग, मिर्च आदि से सुवासित सन्धान (खाद्य पदार्थ [खट्टा भात ?]), खीर, पूरी, वटक (बाटी), पर्पट (पापड़ ?), सेव (महीन पीसे गेहूँ की तन्तु जैसी वस्तु से बनी, मिठाई), पिण्ड, लड्डू, पोलिक, भात, दाल, दूध, दही, हैयङ्गवीन (कल के दुहे दूध का घी अर्थात् टटका घी), केला, आम, राजीफल, जामुन, कटहर, खर्बूज आदि भिन्न भिन्न ऋतुओं में होनेवाले (मौसमी) विविध प्रकार के फल और नारियल।

के अवलोकन से अवगत होता है कि कभी उसको इस देश के लोग 'कर्कारुक' कहते थे। 'कर्कारुक' में 'कर्क' का जो संकेत है वह उसका समय बताने के लिए पर्याप्त है। हमारी समझ में 'कर्कारुक' का अर्थ है 'कर्क' का 'आरुक' अर्थात् ग्रीष्म का आलु। आलु का व्यवहार अति सामान्य है। संक्षेप में यहाँ इतना ही जान लें कि 'सुश्रुतसंहिता' में जो—

त्रपुसैर्वारुकर्कारुकालावुकालिन्दकतकगिङ्गोड्वपियालपुष्करबीजकाश्मर्यमधूकद्राक्षाखर्जूरराजदाने। —सूत्रस्थान ४८-२४।

आदि का उल्लेख है, उसमें 'त्रपुष', खीरा, 'एर्वारु', ककड़ी, 'कर्कारुक', खरबूजा, 'अलाबु', तुम्बी, 'कालिन्द', तरबूज और 'कतक', निर्मली का नाम है। 'कर्कारुक' का नाम तो आज उतना प्रचलित नहीं, पर कालिन्द आज भी मराठी में 'कालिंगड' के रूप में ख्यात है और उसके सर्वथा हिन्दी होने की साखी दे रहा है। जो लोग तरबूजे को मुसलमानों की देन समझते हैं, उन्हें 'मतीरा' और 'हिनवाना' पर भी कुछ विचार करना चाहिए। हिनवाना (हिन्दवाना) तो उसके हिन्दी होने की गवाही देता है मुसलमानी होने का नहीं। इसकी अधिक जानकारी के लिये देखिये 'हिन्दवाना' शीर्षक लेख।

खरबूजा के साथ ही साथ बाबर तथा उक्त अल्लामाओं ने जिस फल को विशेष महत्त्व दिया है वह अंगूर है। 'अंगूर' को मुसलमानी कहनेवाले मुसलमान तनिक ध्यान से सुनें और देख लें कि इसलाम से बहुत पहले ही वह हिन्दुस्थान में विराजमान है और उसकी वाटिका की शोभा बढ़ा रहा है। 'राजदासी' का कर्तव्य है कि वह नायिका से घर पर ही कहे—

इहि प्रवालकुट्टिम ते दर्शयिष्यामि मणिभूमिका वृक्षवाटिका मृद्वीका मण्डप समुद्रगृहप्रासादान् गूढभित्तिसंचाराश्चित्रकर्माणि क्रीडामृगा-

---

१—खीरा, ककड़ी, खरबूजा, तुम्बी, तरबूज, निर्मली, गिलोय, पियाल, कमलगट्टा या मखाने, खम्मारी, महुआ, अंगूर, खजूर, राजदान (पियाल)।

न्यस्यान्यपि शकुनान्व्याघ्रसिंहपञ्जरादीनि च यानि पुरस्तादर्शितानि स्युः।
—कामसूत्र, ५-५-१७।

इसमें तो सन्देह का नाम नहीं कि 'मृद्वीकामण्डप' वस्तुतः अंगूर का 'लतागृह' ही है। 'मृद्वीका' के बारे में भूलना न होगा कि संस्कृत का बच्चा बच्चा कभी 'अमरकोश' में घोखा करता था—

मृद्वीका गोस्तनी द्राक्षा स्वाद्वी मधुरसेति च।

तो भी यदि आज प्रमादवश हमारे देश के अल्लामा मुँह में मुँह मिलाकर एक पाँति में बोल उठते हैं कि 'अगूर मुसलमानों के साथ इस देश में लाया गया' तो इसका उपाय क्या है? हम उनको इस मुसलमानी खोज से क्या सीख सकते हैं? जो हो, हमको तो सदा याद रखना होगा कि इसलाम के उदय के बहुत पहले हमारे देश में अगूर बस चुका था और उसकी लता में 'लतागृह' भी बनाया जाता था। रही 'वृक्षवाटिका', वाटिका वा बाग की बात। सो इसके विषय में इतना और भी जान लें कि उसके उपवन, उद्यान आदि के न जाने कितने रूप थे, जिनका आज हमें रूप तो क्या नाम तक भूल गया है। तो भी इतना तो स्पष्ट ही है कि इसमें जो 'समुद्रगृहप्रासादान् गूढभित्तिसंचारान्' का प्रयोग किया गया है, वह किसी विशिष्ट वास्तुकला का द्योतक है। टीकाकार महोदय का तो कहना है—

समुद्रगृहप्रासादानिति। धारागृहान् प्रासादांश्च। गूढभित्तिसञ्चारानिति। गूढोभित्तिमध्यगतत्वान् जलसञ्चारो येषु समुद्रगृहेषु, प्रासादेष्वपि निष्कासनप्रवेशनलक्षणसञ्चारानिति योज्यम्। —कामसूत्र पृ० २८४।

१—मैं तुम्हें बाहर प्रवालकुट्टिम (मूँगे से जड़ी भूमि), मणिभूमि, वृक्षवाटिका, अगूर की बेल का मण्डप और ऐसे समुद्रगृह नामक महल, जिनकी दीवालों में प्रच्छन्न जलयन्त्र लगे हैं, चित्र क्रीडामृगयन्त्र (चालित) पक्षी, व्याघ्र, और सिंह के पिंजरे आदि दिखाऊँगी।

२—समुद्रगृहप्रासाद का अर्थ है धारागृह और प्रासाद। 'गूढभित्तिसञ्चार' का अर्थ है वे समुद्रगृह, जिनमें दीवालों के भीतर प्रच्छन्न जलसञ्चार है। यह विशेषण प्रासाद का भी है, इस पक्ष में अर्थ होगा—जिनमें निष्कासन और प्रवेश रूपी सञ्चार अर्थात् मार्ग हों।

परन्तु इतने से स्थिति स्पष्ट नहीं होती। निदान यह भी ध्यान रहे कि—

एकनाडीगतच्छिद्रैः काष्ठनालैः परिश्रितम्।
यत्र काष्ठप्रणालीति छंदपृष्ठेऽम्बु धावति॥ ४७॥
स्तम्भशीर्षकरूपाणि काष्ठमूलाश्रितानि च।
सुषिराणि प्रयत्नेन काष्ठनाडीमुखान्तरैः॥ ४८॥
रूपाणामथ तेषां तु स्तननासामुखाक्षिभिः।
नानास्थानस्थितानां च वृषवानरदंष्ट्रिणाम्॥ ४९॥
कृतसूक्ष्मान्तरच्छिद्रैः प्रवर्षति समन्ततः।
तद् धारागृहमित्युक्तं धारागारादिनामभृत्[1]॥ ५०॥

—समरांगणसूत्र, गा० ओ० सी० नं० २५०, पृ० ६०।

'धारागृह' को और भी निकट से भोगना हो तो—

विधेयाशोकवनिका स्नानधारागृहाणि च।
लतामण्डपसंयुक्ताः स्युरत्रैव लतागृहाः॥ २९॥
दारुशैलाश्च वाप्यश्च पुष्पवीथ्यः सुकल्पिताः।
पुष्पदन्ते भवेद् यन्त्रकर्मान्तः पुष्पवेश्म च॥ ३०॥

१—धारागृह उसे कहते हैं, जिनमें चारों ओर छिद्रयुक्त काठ की नालियाँ एक पंक्ति में होती हैं और छत पर काठ की नाली में पानी बहता रहता है, जिसके खम्भे के सिरे छेदवाले होते हैं और काठ के ऊपर आश्रित होते हैं। स्थान स्थान पर बैल, बन्दर और हाथियों की आकृतियाँ बनी रहती हैं, जिनके बीच बीच में काठ की नाली रहती है और उनके नाक, मुँह और आँखों से जिनमें थोड़ी थोड़ी दूर पर छेद रहते हैं, सदा पानी बरसता रहता है। इसके अन्य नाम 'धारागार' आदि भी हैं।

धरुणस्य पदे कुर्याद् वापीयानगृहाणि च।
स्यात् कोष्ठागारमसुरे शोषे त्वायुधमन्दिरम्[1] ॥ ३१ ॥
—वही, पृ० ६४।

इतना कुछ होते हुए भी न जाने किस बल और किस बूते पर स्वर्गीय अल्लामा शिबली नोमानी ने लिख ही तो दिया—

हिन्दुस्तान के गवार माली बाग में यों ही बेतरतीब दरख्त लगाते थे। चमनबन्दी खियाबान (किआर, क्यारी) जदवल (नाली), तख्तबन्दी (कोठा) का नाम भी किसी ने नहीं सुना था न बागों में किसी किस्म की इमारत और आबशार (झरना) होते थे। बाबर ने हिन्दुस्तान में आकर इन चीजों का रवाज दिया। —मकालात शिबली, पृ० ११४।

किन्तु अचरज की बात तो यह है कि बाबर स्वयं लिखता है कि—

गर्ज इसी बेढंगी और खराब जाय (जगह) पर हिन्दोस्तानी वजा (तरीके) के खूबसूरत बाग और इमारतें तैयार हो गयीं। हर टुकड़े में माकूल चमन (बढ़िया बाग) बन गया। हर चमन में तरह तरह के गुलबूटे लगाये गये। —तरजमा तुजुक बाबरी, पृ० २९४।

बाबर ने अभी अभी जो कुछ कहा है, उसको अपूर्व और अद्वितीय वही समझ सकता है, जिसको अपने यहाँ के 'पुष्पकरण्डक' उद्यान का तनिक भी बोध नहीं। हम और कुछ नहीं, केवल इतना कहना चाहते हैं कि उक्त अल्लामा अपनी मुसलमानी खोज की सनक में यह न भूल जाँय कि अमीर तैमूर भी अपने प्रासाद निर्माण में यहाँ के ऋणी हैं और उनका बादशाह बाबर भी खुन कर मानता है कि इस देश में कलाविदों और शिल्पियों की कमी नहीं। उसका निष्कर्ष है—

१—इसके पीछे अशोकवनिका (छोटा सा उपवन), स्नानागार और धारागृह बनाये जाँय। यहीं पर लतागृह हों। काष्ठ के सुन्दर कृत्रिम शैल, बावड़ी और फूलों की वीथी हो। उसके उत्तर-पश्चिम में यन्त्रकर्मयुक्त पुष्पगृह हों, पश्चिम में वापीगृह तथा पानशाला बनायी जाय। असुर (सूप के स्थान) में कोष्ठागार तथ शोष में आयुधागार हों।

हिन्दुस्तान में एक उम्दगी यह भी है कि हर फ़िरक़ा (ज्ञाति) और हिरफ़त (कला कौशल) का आदमी कसरत से है और हर काम और हर चाज के लिए हजारों आदमी मौजूद हैं, जिनके यहाँ बाप दादा से वही काम होता आया है। जफरनामा में मुल्ला शरफउद्दीन अली यजदी ने लिखा है कि हजरत अमीर तैमूर ने जब सर्गीन मसजिद बनवायी थी तब आजरबायजा फारस, हिन्दोस्तान वगैरह मुल्कों के दो सौ सगतराश (पत्थरकट) काम करते थे और इस तादाद का बहुत खयाल करते हैं। मैंने जो इमारत तरफ़ आगरा में बनवायी है, उस में आगरा ही के छ सौ अस्सी सगतराश लगे हुए हैं। इसके अलावा सीकरी, बयाना, दौलतपुर, ग्वालियर और कोल (अलीगढ) में एक हजार चार सौ एकानवे सगतराश रोजाना मेरे मकानों में काम करते हैं। इसी पर कयास (अनुमान) कर लेना चाहिए कि हर काम और हर पेशा का आदमी हिन्दुस्तान में बेशुमार है।

—तरजमा तुजुक बाबरी वही पृ० १९०।

फिर भी जब इसी बाबर के बल पर हमारे देश के अल्लामा मनमानी चौकड़ी भरते और इधर उधर की यों ही कुछ सुनाते हैं तब उनका मुँह देखने के सिवा हमारे पास और उपाय ही क्या रह जाता है? और तो और, खोज के परम प्रेमी मौलाना हाफिज महमूद शेरानी तक इस बुढ़ापे में लिख मारते हैं —

इन में बाग गुल, गुलाब अनार, शहतूत, नारंगी, अबीर, आसमान मुसलमानी अल्फ़ाज़ (शब्द) हैं और यह एतराज वारिद (लागू) होता है कि जिस तरह पृथ्वीराज के अहद की ज़बान मुसलमानी अल्फ़ाज़ से इस कदर मखलूत (मिश्रित) मुतसवर (कल्पित) नहीं हो सकती, उसी तरह यह बाज़ दरख्त जो मुसलमानों की आमद के बाद हिन्दोस्तान में आये हैं, ऐसे क़दीम जमाना में देहली के एक बाग में क्योंकर मौजूद माने जा सकते हैं? बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि मुसलमानों की आमद से क़बल हिन्दोस्तान में बागात का दस्तूर ही नहीं था।

—ओ० का० मैगजीन लाहौर, नवम्बर सन १९३७ ई० पृ० ४।

हम मौलाना हाफ़िज़ महमूद साहब से स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि धर्म आपने अपने मनीत को देखा ही क्या है जो इस प्रकार का मुसलमानी फतवा दे रहे हैं। देखिए मृच्छकटिक का संस्थानक कहता है--

ततस्तेन भगिनीपतिना परितुष्टेन क्रीडितुं रक्षितुं सर्वोद्यानानां प्रधा पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानं दत्तम्। तत्र च प्रेक्षितुमनुदिवसं शुष्कं कारयितुं शोधयितुं पुष्टं कारयितुं लूनं कारयितुं गच्छामि। —नवाँ अंक।

साथ ही यह भी ध्यान रहे कि शुक्रनीति में स्पष्ट कहा गया है कि वृक्षादि का पालन भी कला है---

हिङ्ग्वादिरससंयोगादन्नादिपचनं कला।
वृक्षादिप्रसवारोपपालनादिकृति: कला॥

'प्रसवारोप' की व्याख्या में उलझना समीचीन न होगा, किन्तु इतना तो प्रकट ही है कि 'आरोप' को कोरा 'रोप' भी नहीं कहा जा सकता। जो हो, किसी भी मनीषी को यह मानने में संकोच नहीं हो सकता कि मौलाना महमूद साहब का यह कहना कि मुसलमानों के पहले 'हिन्दोस्तान में बागात का दस्तूर ही नहीं था' सत्य से उतना ही दूर है जितना इसलाम से कुफ्र।

मौलाना महमूद शेरानी ने एक और विलक्षण बात यह की है कि 'नारंगी' को 'मुसलमानी लफ़्ज़' मान लिया है। पता नहीं, उनको यह इलहाम कहाँ से हुआ। सच तो यह है कि---

मसऊदी का बयान है कि 'नारंगी और लेमू भी हिन्दुस्तान की ख़ास चीज़ें हैं। यह अरब में तीसरी सदी हिजरी में हिन्दुस्तान से लाये

१---मेरे भगिनीपति अर्थात् राजा ने प्रसन्न हो क्रीड़ा और रक्षा के लिए सर्वोत्तम पुष्पकरण्डक नाम का जीर्णोद्यान (प्राचीन उपवन) मुझे दिया। उसकी देखभाल के लिए, वृक्ष आदि को धूप लगवाने, सँवारने, सुधारने, पानी और खाद से वृक्षों को पुष्टि कराने और काटछाँट कराने वहाँ प्रतिदिन जाता हूँ।

२---हींग आदि के रस के संयोग से अन्न का पकाना कला है। वृक्ष इत्यादि का प्रसव, आरोप और पालन करना कला है।

गये और पहले 'उमान' में, फिर वहाँ से ईराक़ व शाम तक पहुँचे। यहाँ तक कि वह शाम के साहिली (तटवर्ती) शहरों और मिस्र में घर-घर फैल गये।' मगर मसऊदी कहता है कि 'वह हिन्दुस्तान का मज़ा नहीं।' —अरब व हिन्द के तालुक़ात, पृ० ७४।

मसऊदी ही क्यों स्वयं महमूद शीरानी साहब फरमाते हैं—

ईरानी इसे नारंग कहते हैं, जिसकी मुअर्रबशक्ल नारज है। नारंग के आखिर में 'ई' का इज़ाफा (बढ़ावा) हिन्दुस्तानी उपज है।

—वही पृ० ४।

यदि यही बात है तो सीधे से मान लेना होगा कि वास्तव में 'नारंग' मुसलमानी नहीं आर्यभाषा का शब्द है और उस पर ईरान से कहीं अधिक हिन्द का अधिकार है। 'नारंग' को हिन्द में कौन नहीं जानता? कितने पचनदी आज 'नारंग' कहे जाते हैं। नारंग' और 'नागरंग' दोनों ही रूप संस्कृत में पाये जाते हैं। कुछ लोगों की धारणा है कि नारंग फल और नागरंग वृक्ष का नाम है। संभव है कभी ऐसा ही रहा हो पर संस्कृत साहित्य में 'नागरंग' का प्रयोग फल तथा वृक्ष दोनों के लिए पाया जाता है। अमरसिंह कहते हैं—

"ऐरावतो नागरङ्गो नादेयी भूमिजम्बुका ॥"—२, ४, ३७।[1]

'नाग' का ऐरावत' से एक ओर सम्बन्ध है तो 'नागपुर' से दूसरी ओर। तो क्या नारंगी के इतिहास में कुछ नागवंश का भी हाथ है? जो हो 'नारंग' है सर्वथा अपना ही शब्द, उससे मुसलमानों का कोई नाता नहीं। उनसे न जाने कितने दिनों पहले से वह भारत में फल-फूल रहा है और जहाँ तहाँ पाया भी खूब जाता है।

अम्लं समधुरं हृद्यं विशदं भक्तरोचनम्।
वातघ्नं दुर्जरं प्रोक्तं नागरङ्गस्य फलं गुरु ॥"[2]
—४६, १६१।

१—ऐरावत नागरंग, नादेयी और भूमिजम्बुका ये चारों नारंगी के नाम हैं।

२—खट्टा, मीठा, हृद्य, विशद, क्षुधा को प्रदीप्त करनेवाला, वात को नाश करनेवाला और जल्दी खराब न होनेवाला नारंग का फल बताया गया है।

को भला कौन भूल सकता है ! स्मरण रहे, भोजराज का तो कहना ही है—

"जम्बीरैर्बीजपूरैश्च नारंगैः पीतकैः फलैः ।
पूजयेत् सत्यनामानं देवं तेन स तुष्यति[1] ॥३६—८॥
—समरांगण०, पृ० २०४

निदान कोई भी विवेकी नारंगी को मुसलमानों का प्रसाद नहीं कह सकता चाहे दिन रात मुसलमान इसको मुसलमानी कहते रहें और अपनी मुसलमानी द गहरा हाथ दिखाते रहें ।

'नारंगी' ही नहीं, 'सन्तरा' 'अनार', 'अंगूर' आदि के विषय में भी मुसलमानों की यही राय है कि ये उन्हीं के साथ हिन्दुस्तान में आये। पर यदि किसी मुसलमान से पूछा जाय कि हजरत यह 'सन्तरा' किस भाषा का शब्द है और कैसे इसलाम में दाखिल हो गया, तो उसकी बोलती बन्द हो जाती है और फिर कुछ कहते-सुनते नहीं बनता। उसे इतना तो पता है कि मुहम्मदशाह (सन् १७१६–४८) ने इसका नाम 'सगतरा' से बदल कर 'रंगतरा' कर दिया, पर वह यह नहीं जानता कि 'सगतरा' है क्या बला ? हाँ, 'नूरुल्लुगात' के सम्पादक ने अवश्य ही उसे 'पुर्तगाली' शब्द बताया है और इधर हिन्दी 'शब्दसागर' का भी यही मत है । अब यदि इसे ठीक मानें, तो 'सन्तरा' मुसलमानी कैसे हो गया, कुछ इस पर भी तो ध्यान देना चाहिए, अथवा बाहरी सभी कुछ मुसलमानी ही है ?

'अनार' का जाप जपनेवाले अल्लामा मुसलमान न जाने कैसे भूल जाते हैं कि 'राजस्थान' में आज भी 'दाड़िम' का पूरा प्रचार है और उसके सामने 'अनार' को कोई बिरला ही बोलता है । आज तो मुसलमान न जाने किस आसमानी लोक से उसे अपने साथ ले ते हैं, पर जानते इतना भी नहीं कि कभी की उसके बारे में आर्य घोषणा हो चुकी है—

१—सत्यनामक देवता की पूजा नींबू, बिजौरा और नारंगी इन पीले फलों से करे, इससे वह सन्तुष्ट होते हैं ।

"दाडिमामलकं द्राक्षा खर्जूरं सपरूपकम्।
राजदानं मातुलुङ्गं फलवर्गे प्रशस्यते[1]॥"
—सुश्रुतसंहिता ४६, ३३४।

'दाडिम' के विषय में इतना और जान लें तो 'अनार' और 'बिही' का भेद भी खुल जायगा। कहते हैं—

"द्विविधं तत्तु विज्ञेयं मधुरं चाम्लमेव च।
त्रिदोषघ्नं तु मधुरमम्लं वातकफापहम्[2]॥"
—सुश्रुतसंहिता, ४६, २३२।

और यदि इनका अलग अलग नाम जानना हो तो 'अमरकोश' के 'समौ करकदाडिमौ' को जान लें। अंगूर (द्राक्षा, मृद्वीका) का प्रसंग पहले आ चुका है, 'खर्जूर' पर फिर कभी विचार होगा। यहाँ बस इतना और जान लीजिये कि यहाँ मेवों का भी अभाव न था। देखिए—

"वातामाक्षोडाभिषुकनिचुलपिचुनिकोचकोरुमाणप्रभृतीनि।"
—सुश्रुतसंहिता ४६, १८७।

इसमें बादाम' और 'अखरोट' तो प्रत्यक्ष ही 'वातामाक्षोड' के रूप में विराजमान हैं। शेष 'अभिषुक', 'निचुल', 'पिचु', 'निकोचक', 'उरुमाण' प्रभृति के मुसलमानी नाम क्या हैं इसे मुसलमान जानें। हमें तो बस इतना भर बताना है कि यह सब कुछ होते हुए भी हमारे देश के नामी मुसलमान और बड़े बड़े खोजी मियाँ बड़े अभिमान से कह जाते हैं—

हिन्दुस्तान अगरचे जराअती मुल्क है, इसीलिए नबातात (वनस्पति) और समरात (फल) की किस्म से तमाम चीजें यहाँ पैदा होनी चाहिएँ थी, लेकिन हिन्दू चूँकि मुल्क से कभी निकलते न थे, इसलिए उनको

१—अनार, आँवला, अंगूर, खजूर, राजदान और मातुलुङ्ग (एक प्रकार का नीबू) ये फलों में प्रशंसनीय हैं।

२—यह (अनार) दो प्रकार का होता है—मीठा और खट्टा। मीठा अनार त्रिदोष को नाश करता है और खट्टा वात तथा कफ का अन्त करता है।

दुनिया की समरात और मजरूआत (कृषि) की खबर न थी। इसके सिवा उनकी कनाअत (सन्तोष) पसन्द तबीअत के लिए अड्डल, कटहल और फूट क्या कम थी ? —मकालात शिबली, पृ० ११२।

परन्तु मुसलमानी लोगों को छोड़कर सारी दुनिया जानती है कि अपने दिनों में हिन्दुओं ने क्या कुछ किया और मुसलमान लोग भी तो इतना मानते ही हैं कि

बहर हाल इसमें कोई शक नहीं कि बरामका ही खानदान वह खानदान था, जिसकी सरपरस्ती में मुसलमानों में इल्म कलाम (वाक्य विद्या) फिलसफा, तिब्ब (चिकित्सा), माकूलात (औचित्य) और दूसरी कौमों के उलूम (ज्ञान) के सीखने का शौक पैदा हुआ।

—अरब व हिन्द के तालुकात, पृ० १०२।

और यह भी खूब टाँक लें कि यदि शोध की साधुदृष्टि से देखा जाय तो—

बरामका के अहद वजारत (मन्त्रिकाल) की वह तमाम इल्मी सरगरमियाँ उलूम (विद्या) व फनून (कौल्य) की सरपरस्तियाँ (सरक्षाएँ) शेख सुखुन की कद्रदानियाँ, हिन्दुस्तान की तिब्ब और हैय्यत (ज्योतिष) को अरबी में मुन्तकिल (अनूदित) करने की कोशिशों की दाद ईरान की बजाय आइन्दा आर्यावर्त हिन्दुस्तान के हिस्सा में आ जायँगी और यह हिन्दुस्तान का मामूली कारनामा न होगा।

—अरब व हिन्द के तालुकात, पृ० १२१।

'आर्यावर्त हिन्दुस्तान' का कारनामा इतना विश्वविदित हो चुका है कि अब उसको इन छोटी-मोटी बातों की चिन्ता नहीं, पर हाँ, इतना अवश्य है कि यदि 'मुसलमान' उन कारनामों से परिचित हो जाते, जो भारतवासियों ने कभी विदेशों अथवा अपने उपनिवेशों में किया था और मध्य एशिया की बर्बर जातियों को शिष्ट बनाकर इसलाम को फलने फूलने का अवसर दिया था, तो आज इस प्रकार 'हिन्द' को न कोसते और भूलकर भी ऐसी घोषणा न करते कि

यहाँ लिबास, खोराक और मकानों का किस्में लिखने की गुंजाइश नहीं, लेकिन इनमें से जितनी किस्में हैं, वह सब और सब नहीं तो

३९ फीसदी गैरहिन्दुस्तानी हैं। उनमें से अक्सर ईरानी, तातारी और तुर्की तमद्दुन (संस्कृति) की याद दिलाती हैं।

—उर्दू, जुलाई सन् १९३९ ई०, पृ० ३८२।

बल्कि होता यह कि उनको ईरानी, तातारी और तुर्की तमद्दुन में ही ९९ फी सदी हिन्दुस्तानी दिखायी देता। परन्तु दिखायी देता तो कैसे, आज की मुसलमानी खोज तो बताती है कि

खोराक और गिजा (भोजन) के सिलसिला में संस्कृत में रोटी तक के लिए कोई लफ्ज नहीं। इसे गेहूँ से बनी हुई गिजा कहते थे। मुख्तलिफ सूबों में इसके अलहदा नाम हैं। अबतक हिन्दुस्तान के देहातों में खाने की आम इस्तेमाल की चीज भुना हुआ गल्ला है। चूँकि कच्ची और पक्की गिजा का ताल्लुक हिन्दू धरम से है इसलिए किसी ऐसी गिजा का नाम पुरानी जबानों में नहीं पाया जाता, जो छूतछात के असरात (प्रभाव) से खाली हो और इसके साथ साथ इंसानी सनअत (शिल्प) का भी उसमें दखल हो। हिन्दुस्तान के अलावा रोटी हर जगह तन्दूर में पकती है और नानबाई, हलवाई, कबाबची, कहवाफरोश वगैरह का तखैयुल (कल्पना) ही ऐसी अकवाम (जातियों) से वाबिस्ता (सम्बद्ध) है, जिनमें छूतछात न हो।

— उर्दू, जुलाई सन् १९३९ ई० पृ० ३८०।

अल्लामा शिबली की खोज की आँख के सामने भला 'कटहल', 'बड़हल' और 'फूट' तो आ गये थे, पर यहाँ प्रोफेसर मुहम्मद अजमलखाँ साहब को तो 'भुना हुआ गल्ला' के सिवा और कुछ दिखाई ही नहीं देता। पता नहीं विश्वभारती की किस कोठरी में आँख मूँदकर शोध करते और सारे संस्कृतसाहित्य में रोटी तक के लिए कोई लफ्ज नहीं पाते हैं। यदि कृपाकर मन मारकर एक बार 'मुगल बादशाहों की हिन्दी' (ना० प्र० सभा, काशी) बाँच जाते, तो उन्हें भी पता हो जाता कि 'रोटी' यहीं की उपज है, कुछ मुसलमानों की देन नहीं, पर इतने से ही काम न चलेगा। उन्हें तो विवश हो बरबस दिखाना पड़ेगा कि हिन्दू के यहाँ

आहार किसे कहते हैं और वह किस ढंग से किया जाता है। देखिए भगवान् 'धन्वन्तरि' कहते हैं—

"घृत कार्ष्णायसे देय पेया देया तु राजते ॥४४८॥
फलानि सर्वभक्ष्यांश्च प्रदद्याद्वै दलेषु च।
परिशुष्कप्रदिग्धानि सौवर्णेषु प्रकल्पयेत् ॥४४९॥
द्रवाणि रसांश्चैव सर्वान् शैलेषु दापयेत् ॥४५०॥
दद्यात्ताम्रमये पात्रे सुशीत सुशृत पय।
पानीय पानक, मद्य मृण्मयेषु प्रदापयेत् ॥४५१॥
काचस्फटिकपात्रेषु शीतलेषु शुभेषु च।
दद्याद् वैदूर्य चित्रेषु रागषाडवसट्टकान् ॥४५२॥"

घी कृष्णलोह के पात्र में देना चाहिए, पेय चाँदी के पात्र में देना चाहिए, फल तथा सर्व प्रकार के भक्ष्य पदार्थ पत्तों पर देने चाहिए, सूखे और प्रदिग्ध पदार्थ सोने के पात्र में देने चाहिए, द्रव पदार्थ तथा रस चाँदी के पात्र में देने चाहिए खूब उबालकर फिर ठंडा किया हुआ दूध ताँबे के पात्र में देना चाहिए, पानी, पानक और मद्य मिट्टी के पात्र में देने चाहिए, अथवा काँच, स्फटिक के शीतल और पवित्र पात्र में देने चाहिए रागषाडव और सट्टक वैदूर्य के पात्र में देने चाहिए। इतना ही नहीं, अपितु और भी स्मरण रहे—

पुरस्ताद्विमले पात्रे सुविस्तीर्णे मनोरमे।
सूद सूपौदन दद्यात् प्रदेहांश्च सुसंस्कृतान् ॥४५३॥
फलानि सर्वभक्ष्यांश्च परिशुष्काणि यानि च।
तानि दक्षिणपार्श्वे तु भुञ्जानस्योपकल्पयेत् ॥४५४॥
प्रद्रवाणि रसांश्चैव पानीय पानक पय।
खडान् यूषांश्च पेयांश्च सव्ये पार्श्वे प्रदापयेत् ॥४५५॥
सर्वान् गुडविकारांश्च रागषाडवसट्टकान्।
पुरस्तात् स्थापयेत् प्राज्ञो द्वयोरपि च मध्यत ॥४५६॥"

अर्थात् बुद्धिमान् रसोइया निर्मल चौड़े और मनोहर पात्र में सामने भात तथा (रायता, चटनी इत्यादि) सुसंस्कृत लेह्य पदार्थ स्थापन करे। फल सब प्रकार

के (लड्डू, मोदकादि) भक्ष्य पदार्थ तथा अन्य सूखे पदार्थ भोजन करनेवाले के दाहिनी ओर रख दे। पतले पदार्थ, मांसरस पानी, पानक, दूध, खाड, यूष तथा अन्य पीने के पदार्थ बाईं तरफ रख दे। सब गुड़ के पदार्थ, रागषाडव और सट्टक इन्हें सामने, फल और द्रव पदार्थों के बीच में रखे।

अब तनिक भोजन करने की विधि भी देख लें—

"पूर्वं मधुरमश्नीयान्मध्येऽम्ललवणौ रसौ।
पश्चाच्छेषान् रसान् वैद्यो भोजनेष्ववचारयेत् ॥४५९॥
आदौ फलानि भुञ्जीत दाडिमादीनि बुद्धिमान्।
ततः पेयांस्ततो भोज्यान् भक्ष्यांश्चित्रांस्ततः परम् ॥४६०॥
घनं पूर्वं समश्नीयात् केचिदाहुर्विपर्ययम् ॥४६१॥
आदावन्ते च मध्ये च भोजनस्य तु शस्यते।
निरत्ययं दोषहरं फलेष्वामलकं नृणाम् ॥४६२॥
मृणालबिसशालूककन्देक्षुप्रभृतीनि च।
पूर्वं योज्यानि भिषजा न तु भुक्ते कदाचन ॥४६३॥

अर्थात् भोजन में पहले मधुर रस (युक्त पदार्थ) सेवन करे और पीछे वैद्य को चाहिए कि वह शेष रस (तिक्तोषण कषाययुक्त पदार्थ) परोसे। बुद्धिमान् (मनुष्य) भोजन में पहले दाडिम आदि फल सेवन करे; उसके पीछे पेय पदार्थ सेवन करे और तदनन्तर विविध भोज्य और भक्ष्य पदार्थ सेवन करे। पहले गाढ़ा या कड़ा पदार्थ रखना चाहिए; कई इसके विपरीत कहते हैं। फलों में से आँवला मनुष्यों के लिए बाधा न करनेवाला और सर्वदोषनाशक है, इसलिए उसे भोजन के पूर्व, पीछे तथा बीच सेवन करना उचित है। मृणाल, बिस (कमलतन्तु), शालूक, कन्द और इक्षु इनका उपयोग वैद्य को हमेशा भोजन के पूर्व करना चाहिए, भोजन के बाद नहीं (सुश्रुतसंहिता सूत्रस्थान, अध्याय ४६; मेहरचन्द लक्ष्मण दास, लाहौर।)

भोजन की जो सामग्री प्रस्तुत है, उससे यदि किसी मांसाहारी का पेट न भरे, तो उसे जान रखना चाहिए कि—

उल्लुप्तं भर्जितं पिष्ट प्रतप्तं कन्दुपाचितम्।¹
परिशुष्कं प्रदिग्धं च शूल्यं यच्चान्यदीदृशम् ॥
—सुश्रुतसंहिता ४६,३५७।

की भी यहाँ कमी नहीं है। फिर भी, यह सब देखते हुए भी, यदि किसी अल्लामा के मुँह से यही निकलता है कि—

हिन्दुस्तान की कनाअतपसन्द तबीयत मिट्टी की हाँड़ियों और केले के पत्तों से आगे नहीं बढ़ी। —नुकूशे सुलेमानी पृ० २६।

तो मानना पड़ता है कि अभी इस देश को अपने मुसलमान सपूतों से बहुत कुछ सुनना है। उनके अध्ययन का ध्येय विलायती आ है।

घर और भोजन की तो कुछ चर्चा हो ही गयी। जिसने इतने से नहीं समझा, उसकी समझ को कुछ और ही समझना है। अब उसे यहीं छोड़ अब वस्त्र पर भी थोड़ा विचार कर लेना चाहिए। लीजिये प्रोफ़ेसर मुहम्मद अजमलखाँ एम ए फरमाते हैं—

'लिबास के लिए संस्कृत में सिवाय कपड़े के और कोई लफ्ज नहीं मिलता और हो भी क्यों? हिन्दुस्तान की आब व हवा में ज्यादातर ऐसा मौसम रहता है कि जुब्बा (अँगरखा) व दस्तार (पगड़ी, अगोछा) की जरूरत होती ही नहीं। एक धोती भी अक्सर बार (बोझ, भार) होती है, बल्कि लंगोटी ही काफी होती है। इसीलिए क़दीम हिन्दुस्तानी तमद्दुन (संस्कृति) की यादगार अब तक उड़ीसा, आसाम, वस्त (मध्य) व जनूबी (दक्षिणी) हिन्द में बाकी है और मर्द व जन (स्त्री) बाज औक़ात (कभी-कभी) घास, पत्तों और खाल से सतरपोशी (लिंगोटी) कर लेते हैं और अक्सर बिल्कुल नेचरल (प्राकृत दशा, नग्न) हालत में नजर आते हैं।

—उर्दू, जुलाई सन् १९३६ ई०, पृ० ३७९।

१—उल्लुप्त, भुँजा हुआ, पिसा हुआ, अच्छी तरह तपाया हुआ, कन्दुपाचित, परिशुष्क, प्रदिग्ध और शूल पर पका हुआ तथा इसी भाँति का अन्य भी जो हो।

बात मीठी, भली और दूर की कही गयी है, पर उपजी है मुसलमानी हृदय में। इसी से कागद पर उतर भी आयी है, नहीं तो किसी अन्य के मुँह से स्वप्न में निकलती भी नहीं। प्रोफेसर मुहम्मद अजमलखाँ एम ए ने सारा संस्कृत वाङ्मय छान डाला, कहीं 'लिबास' के लिए कोई शब्द न मिला और अंत में मिला भी संस्कृत शब्द तो 'कपड़ा'। पर किस 'कोश' में, इसे कौन कहे, किस संस्कृत में, इसे कौन बताये ? प्रोफेसर मुहम्मद अजमलखाँ प्रोफेसर ठहरे, किसी कलामी कोश में कुछ भी देख सकते हैं, पर आपको छपे 'अमरकोश' में दिखाई देगा—

वस्त्रमाच्छादनं वासश्चैलं वसनमंशुकम् ।।" —२,६,११५।

वस्त्र, आच्छादन, वास, चैल, वसन और अंशुक तो यहीं विराजमान हैं, अन्यत्र की कौन कहे ? पर इनमें से एक भी हमारे खाँ प्रोफेसर को ढूँढ़े से नहीं मिलता, है न हैरानी की अजीब बात ! यदि प्रोफेसर खाँ को अमरकोश देखने की चिन्ता होती, तो उन्हें तुरत यह भी मालूम हो जाता कि इसलाम के जमीन पर उतरने के पहले ही हिन्दुस्तान' भलीभाँति जानता था कि

तिसी केला आदि की छाल से, कपास आदि के फल से रेशम वाले कृमि के कोए से और भेंड, दुम्मा, मृग आदि के रोएं से कपड़े बनते हैं।

अतः उसके कोशकार अमरसिंह ने स्पष्ट लिख दिया—

त्वक्फलकृमिरोमाणि वस्त्रयोनि[2] । —२०, ६०, ११०।

और 'कामसूत्रकार' ने भी विधान किया—

कर्पासार्णातसीशाणवल्कलादाने सूत्रप्रतिमह[3] । —४, ५, ६ ।

१—वस्त्र, आच्छादन, वास, चैल, वसन और अंशुक ये वस्त्र के पर्यायवाची शब्द हैं।

२—त्वक् (खाल या छाल), फल (कपास), कृमि (कीड़ा रेशम का) और रोम (ऊन) इनसे वस्त्र बनते हैं।

३—कपास, ऊन, अलसी, शण, वल्कल का लेना सूत्रप्रतिग्रह में।

तात्पर्य यह कि संस्कृत-साहित्य में भाँति भाँति के वस्त्र और भाँति-भाँति के आच्छादन हैं। उनका नाम गिनाना व्यर्थ मानकर बताया यह जाता है कि

हिन्दुस्तान के 'बारीक कपड़ों की' तारीफ हमेशा से है और हर क़ौम के बयानात (बयान) से इसका सुबूत मिलता है कि यहाँ निहायत बारीक कपड़े बुने जाते थे। कहा जाता है कि मिस्री ममी जिन बारीक कपड़ों में लिपटी हुई मिलती है, वह हिन्दुस्तान ही की साख़्त (बनावट) के हैं। बहरहाल यह तो क़यास (अनुमान) है। मगर आठवीं सदी ईसवी का एक अरब सय्याह (यात्री) सुलैमान हिन्दुस्तान के एक मुक़ाम की निस्बत लिखता है कि 'यहाँ जैसे कपड़े बुने जाते हैं, वैसे कहीं नहीं बुने जाते और इतने बारीक होते हैं कि एक 'पूरा कपड़ा' (या थान) एक अँगूठी में आ जाता है। यह कपड़े सूती होते हैं और हम ने वह कपड़े खुद भी देखे हैं।

—अरब व हिन्द के ताल्लुक़ात, पृ० ७८।

भारत के विश्व-विख्यात सूती कपड़े के विषय में सुलैमान सौदागर ने जो कुछ कहा है, उसे आज के लोग भले ही कुछ और समझें, पर अभी कल तक भारत ही सूती वस्त्रों का मूल पिता माना जाता था और रोमक रमणियों ने इन 'बुनी हुई हवा के जालों' में अपनी छवि का सब कुछ देख लिया था। जो हो, सूती कपड़ों की नींव तो भारत से टल नहीं सकती, पर ऊनी कपड़ों के विषय में भी याद रहे कि—

"कम्बलः कौचपक' कुलमितिका सौमितिका' तुरगास्तरणं वर्णकं तलिच्छकं वारवाणः परिस्तोमः समन्तभद्रकं चाविकम् ॥१०४॥ पिच्छलमार्द्रमिव च सूक्ष्मं मृदु च श्रेष्ठम् ॥१०५॥ अष्टप्लोतिसंघात्या कृष्णा भिङ्कसी वर्षवारणमपसारक इति नैपालकम् ॥१०६॥ सम्पुटिका चतुरश्रिका लम्बरा कटवानक प्रावरकः सत्तलिकेति मृगरोम ॥१०७॥ वाङ्गकं श्वेतं स्निग्धं दुकूलं पौण्ड्रकं श्याम मणिस्निग्धं सौवर्णकुड्यकं सूर्यवर्णम् ॥१०८॥ मणिस्निग्धोदकवानं चतुरश्रवानं च ॥१०९॥ एतेषामेकांशुक

मर्धद्विनिचतुरशुकमिति ॥ ११० ॥ तेन काशिक पौण्ड्रक क्षौम व्याख्यातम् ॥ १११ ॥ —कौटलीय अर्थशास्त्र, ११ अध्या०, २ अधि० ।

इसका श्री गंगाप्रसादजी शास्त्रीकृत अनुवाद है -

कम्बल, कौचपक (शिरोवस्त्र), कुलमितिका (हाथी का पीठ-वस्त्र), सौमितिका (अम्बारी का काला वस्त्र), तुरगास्तरण (अश्व की झूल) वर्णक (रँगा हुआ कपड़ा), तलिच्छक (बिस्तरे के तले का कम्बल), वारवाण (कोट या चोला), परिस्तोम (हाथी की झूल), समन्तभद्रक (चारखाने का कम्बल) ये सब ऊन के बने हुए उत्तम उत्तम वस्त्र होते हैं। चिकना, गीला सा प्रतीत होनेवाला, सूक्ष्म (बारीक) और कोमल व ऊनी वस्त्र श्रेष्ठ माना जाता है। आठ टुकडे जोडकर बनायी हुई काली भिङ्गसी कहाती है, जो वर्षा के रोकनेवाली होती है— इसे ही अपसारक कहते हैं या एक ही कपडे से बनी अपसारक कहाती है। ये सब नैपाल में बनायी जाती हैं। संपुटिका (जाँघया), चतुरश्रिका (चारों ओर बेलबूटे वाला), लम्बरा (ओढने का वस्त्र) कटवानक (मोटे डोरे से बना हुआ), प्रावारक (किनारीदार दुपट्टा), सत्तलिका (नीचे बिछाने का कपडा) ये मग मृग के रोम के वस्त्र होते हैं। वाङ्गक नामक दुशाला श्वेत चिकना होता है, यह बङ्ग देश में बनता है। पुण्ड्र देश में बना हुआ दुशाला काला और मणि के तुल्य चिकना होता है, यह पौण्ड्रक कहाता है। आसाम के सुवर्णकुड्य देश में उत्पन्न दुशाला सूर्यवर्ण के समान चमकीला होता है। इसे सौवर्णकुड्यक कहते हैं। ये वस्त्र मणि के समान चिकने तन्तु जल में भिगोकर चारों ओर किनारी निकालकर या चित्र विचित्र किनारी बनाकर बनाये जाते हैं। ये वस्त्र एक तन्तु दो तन्तु तीन तन्तु, चार तन्तु मिलाकर बनाये जाते हैं। इसी प्रकार काशिक, पौण्ड्रक रेशमी वस्त्रों को समझ लेना। (कौटलीय अर्थशास्त्र, महाभारत कार्यालय, मालीवाड़ा, दिल्ली,

—सं० १९९७ वि०, पृ० १३० ।

चाणक्य के युग में यहाँ का वस्त्रव्यवसाय इतना बढ़ा था कि 'सूत्राध्यक्ष' का विभाग ही अलग था। तो भी हमारे मुसलमान आलिमों को आम मुसलमानों के आने के पहले भारत नगा (बरहनातन) दिखायी देता है तो इसमें दोष क्या? यह तो उनकी अपूर्व खोज ही ठहरी! नहीं तो अरब और हिन्द के बीच की कोई नयी की खोज निकालनेवाले स्वयं अल्लामा सैयद सुलैमान नदवी भी ऐसा क्यों लिखते कि 'बरहनातन (नग्न शरीर) हिन्दोस्तान को मुसलमानों की बदौलत ही आच्छादन मिला'; उनके सामने तो कितने ही अरबयात्रियों का लेख था! कुछ भी हो, पर यह कभी न हो कि भारत का कोई सपूत यह भी भूल जाय कि आचार्य कौटिल्य का आदेश है कि—

'क्षौमदुकूलक्रिमितानराङ्कवकार्पाससूत्रवानकर्मान्तांश्च प्रयुञ्जानो गन्धमाल्यदानैश्चौपग्राहिकैराराधयेत्'[1]। —२२, २, ९।

वस्त्र कातने और बुननेवाले का समादर करो और सीने की बाबत भी जान लो कि उसकी गणना चौंसठ कलाओं में की गयी है। 'शुक्रनीति' में—

सीवनं कञ्चुकादीनां विज्ञानं हि कलात्मकम्[2]। — ४, ३२६

कहा गया है तो तन्त्रशास्त्र में—

सूचीवानकर्माणि।

और "सूत्रक्रीडा" को 'कला' कहा गया है और आचार्य ने तो 'रजक' और 'तन्तुवाय' को तुल्य ही समझा है—

"रजकैस्तुन्नवाया व्याख्याताः।" —१, ४, ३७।

आच्छादन के प्रसंग में 'शय्या' को छोड़ जाना समीचीन न कहा जायगा, सो भी उस समय, जब पानी पी पी कर मुँह फाड़कर कहा जाता है कि मुसलमानों के आने के पहले हिन्दू 'जमीन पर' सोते थे। सोते रहे होंगे और अनेक आज भी तो सोते हैं! पर इसी के आधार पर कौन कह सकता है कि उन्हें किसी प्रकार

१—रेशमी दुपट्टा, क्रिमि, तानराङ्कव (?), कपास के सूत आदि का प्रयोग करनेवाले व्यक्ति का गन्ध, माल्य आदि अन्य उपकरणों से सम्मान करे।

२—'कञ्चुक आदि की सिलाई कलात्मक विज्ञान है।'

ने शय्या का पता ही न था ? देखिए न अभी १२ वीं शती की आदि में कौन, कहाँ से और क्या कह रहा है। सुनिए—

वसन्ते हंसजा शय्या क्रीडायां पुष्पपत्रजा ॥ ६२ ॥
निदाघे तूलजा शय्या मध्याह्ने तोयजा शुभा।
हेमन्ते शिशिरे चैव वर्षासु च विचक्षणः ॥ ६३ ॥
भजेत शय्यां कार्पासीं नृपः शीतापनुत्तये।
शरत्काले तु कैञ्जल्कीं दोलामञ्चसमाश्रिताम्[1] ॥ ६४ ॥
—मानसोल्लास, पृ० १४३।

चालुक्यभूपति सोमेश्वर ने 'शय्याभोग' का जो परिचय दिया है, उसमें उन्होंने 'दोलामंच' को विशेष सराहा है। भला जो—

उपवेशनमात्रेण गच्छत्यूर्ध्वमधश्च यः।

बैठनेमात्र से नीचे-ऊपर होने लगती है और जिसमें से बढ़िया मरमर शब्द निकलता हो

यन्त्रपत्रिकृतैर्नादैरानन्दं तनुते नदन्।

वह कामुक सामाजिकों को क्यों नहीं भा सकती? परन्तु अचरज तो इस 'तोयजा' को देखकर हो रहा है। सो सोमेश्वरदेव का कहना है—

चर्मजा वारिणा पूर्णा तोया शय्या प्रकीर्तिता।
द्विपदन्तकृतैः पादैश्चतुर्भिरुपशोभितैः[2] ॥ ८३ ॥

हाथीदाँत के पायों पर चाम की बनी और पानी से भरी यह शय्या जेठ की

१—वसन्त ऋतु में हंसजा शय्या का उपभोग करे। क्रीडा के समय पुष्प और पत्रों से बनी शय्या होनी चाहिए। चतुर नरपति ग्रीष्म में तूलजा शय्या और दोपहर को तोयजा शय्या का सेवन करे। हेमन्त, शिशिर तथा वर्षाऋतु में शीत से बचने के लिए कार्पासी शय्या का उपभोग करे। शरद् ऋतु में झूले पर रखी कैञ्जल्की शय्या का सेवन करे"।

२—जल से भरी हुई खाल से बनी तोयजा शय्या कही गयी है, जिसमें हाथीदाँत के चार पाये होते हैं ॥ ८३ ॥

आग बरसती दोपहरी में कैसा सुख देती होगी इसे कोई क्या जाने ? आज के हिन्दी मुसलमान तो बस इतना जानते हैं—

'शोरा खास यहाँ की पैदावर है, लेकिन किसी को हजारों बरस तक यह खयाल न आया कि इस से पानी ठंढा किया जा सकता है। हालाँ कि ठंडे पानी की जरूरत जिस क़दर ऐसे गर्म मुल्क में हो सकती थी मुहताज बयान (वर्णन की अपेक्षा) नहीं। बर्फ भी पहाड़ों से आ सकती थी लेकिन यहाँ के लोगों को अपनी वहशियाना (जंगली) जिन्दगी में आबेसर्द (शीतल जल) की क्या जरूरत थी ? लेकिन मुसलमान अजम (ईरान) से आये तो वह ऐसी जिन्दगी क्योंकर बसर कर सकते थे। अकबर ने शोरा से पानी सर्द करने का रवाज दिया पहाड़ों से बर्फ आकर बाजारों में बिकने लगी। खस की टट्टी भी अकबर की ही ईजाद है। —मकालात शिवली, पृ० १२६।

अच्छा, सच तो कहिए, अकबर के पहले यहाँ के मुसलमान किस भाड़ में तपते रहे और 'अजम' के मुसलमान भी अकबर के पहले हिंदुस्तान में आकर कौन सी भाड़ झोंकते रहे कि शोरा, बर्फ और खस का उपयोग न जान सके ? अरे ! क्या हिन्द के मुसलमानी अल्लामा को आज यह भी बताना होगा कि अकबर अजमी नहीं, जन्म से ही हिन्दी था और जैसा कुछ 'कुफ्री' था उसे आप भी खूब जानते हैं। बस हमें तो स्पष्ट कर देना है कि हिन्दी शीतल जल किसे कहते हैं। सुनिए राजा भोज के सामने कोई राजा त्रिक्रमादित्य की 'वहिका' से बाँच रहा है।

स्वच्छं सज्जनचित्तवल्लघुतरं दीनार्तिवच्छीतलं।
पुत्रालिङ्गनवत्तथैव मधुरं तद्बाल्यसञ्जल्पवत्॥
एलोशीरलवङ्गचन्दनलसत्कर्पूरकस्तूरिका।
जातीपाटलिकेतकैः सुरभितं पानीयमानीयताम्'॥ —भोजप्रबन्ध।

१—सज्जनों के चित्त की तरह निर्मल, दीन के दुःख की तरह लघु (हलका), पुत्र के आलिंगन की तरह शीतल, उसकी बचपन की (तोतली) बोली की तरह मधुर और इलायची, खस, लौंग चन्दन से सुशोभित, कपूर कस्तूरी, जाती, पाटल और केतक से सुवासित पानी लाओ।'

सोऽपि मुखोपहितशरावेण हिमशिशिरकणकरालिताश्रुणायमानाक्षिपदमा धारारवाभिनन्दितश्रवणे स्पर्शसुखोद्भिन्नरोमाञ्चकर्कशकपोल परिमल स्वालोत्पीडफुल्लघ्राणरन्ध्रो माधुर्यप्रकर्षावर्जितरसनेन्द्रियस्तदच्छ पानीय माकण्ठ पपौ।
— दशकुमारचरित, षष्ठ उच्छ्वास।

'खस' और 'बर्फ', 'उशीर' और 'हिम' का प्रयोग तो यहाँ भी दिखाई देता है, पर किस अर्थ में, इस पर ध्यान दें और कृपया भूल न जायँ कि —

> अङ्गं चन्दनपाण्डु पल्लवमृदुस्ताम्बूलताम्रोऽधरो।
> धारायन्त्रजलाभिषेककलुषे धौताञ्जने लोचने॥
> अन्तःपुष्पसुगन्धिराजिकवरी सर्वाङ्गलग्नाम्बरं।
> कान्तानां कमनीयतां विदधते ग्रीष्मेऽपराह्णागमे॥
—अमरुक।

अस्तु, हिन्दी मुसलमानों, विशेषत हिन्दी अल्लामाओं को पता होना चाहिए कि मुसलमानों के इस देश में आने के पहले यहाँ के 'वहशी' गर्मी के दिनों में ऐसी शय्या' पर सोते ऐसा 'पानीय' पीते और ऐसे 'धारागृह' में स्नान करते थे कि जिसका पार पाना उनके बूते का नहीं। सोचिए तो तनिक, किसी अकबर से पहले अलाउद्दीन को किसी 'खस' की क्यों न सूझी? और अन्य देशों के मुसलमानों ने क्या कर लिया।

१—उसने भी मुख के पास लाये गये शराव (कुल्हड़) से वह स्वच्छ जल जी भरकर पिया, जिस जल के हिम से शीतल बिन्दुओं से उसकी आँख की बरौनी कराल हो रही थी, जिसकी धारा का शब्द श्रुतिसुखद था, जिसके स्पर्श से उसके कपोलों पर रोमांच हो आया था और जिसकी सुगन्ध से उसकी नासिका भर गयी थी और जिसके माधुर्य के लोभ से उसकी जिह्वा ललचा उठी थी।

२—स्त्रियों के शरीर को चन्दन से पीला पल्लव से कोमल, उनके अधरों को पान से लाल धारायन्त्र के जल में स्नान के कारण उनकी आँखों को अञ्जन विहीन, फूलों से उनकी वेणी को सुशोभित कर अङ्ग में वस्त्र के संलग्न हो जाने से उनकी कान्ति को बढ़ा मध्याह्न में ग्रीष्म ऋतु उनको अत्यधिक कमनीय बना देती है।

हाँ, बड़े अभिमान से यह भी तो कहा गया है—

ज़नाना लिबास और ज़ेवर और आराइश (सज्जा) के मुताल्लिक़ नूरजहाँ बेगम ने जो जो इख़्तराआत (अनुसन्धान) किये तहज़ीब तमद्दुन (सभ्यता संस्कृति) क़यामत तक उस के एहसान से सुबुकदोश (हल्की) नहीं हो सकती। हिन्दुओं का क्या ज़िक्र है, मुसलमानों में भी नूरजहाँ से पहले ज़ेवरात भद्दे और नामौज़ू (फूहड़) होते थे, जैसे आजकल हिन्दुओं के होते हैं। —मकालात शिबली पृ० १२८।

पर यह 'नूरजहाँ' थी कौन, कहाँ जन्मी थी और किस घर में अपना हुनर दिखाया था, कुछ इसका भी पता है? यदि मुसलमान होने में ही उसका सारा कौशल छिपा था तो मुसलमानों के 'नाज़' बाहिरा में बेगमों की क्या स्थिति है। लीजिये वही अल्लामा फ़रमाते हैं –

"औरतों की वज़ा (भूषा) और लिबास इस क़दर बेहूदा और बदनुमा है कि उससे ज़्यादा क़यास (कल्पना) में नहीं आ सकता। आम औरतें तो वही नीलगूँ (नीला) लम्बा कुरता पहनती हैं, लेकिन दौलतमन्द और नये फ़ैशन की बेगमात, जिनका लिबास बिल्कुल यूरोपियन होता है, वह भी एक एक बदनुमा नीलगूँ बुरका ओढ़कर बीचा या हव्वा बन जाती हैं। बुरका में नाक की जड़ से सीना तक एक स्याह धज्जी सूँड की तरह लटकती रहती है। इस धज्जी के अटकाने के लिए सोने या पीतल की एक गिल्ली होती है, जो पेशानी पर लटकती रहती है और बजाय ज़ेवर के इस्तेमाल की जाती है।"

सफ़रनामा रूम, मिस्र व शाम, मुफ़ीद आम प्रेस आगरा, सन् १८९४ ई०, पृ० १७१।

'बीचा' की सूँड और 'गिल्ली' पर विचार करना तो दूर रहा, उल्टे अल्लामा शैमान ने फ़ाड़ दिया—

"ज़ेवरों में सरपेच, मिरज़ा, बेपरदा, कलगी, तुर्रा, कानों में दुर्रा, गोशवारे, हाथों में दस्तबन्द, जहाँगीरी, बाज़ूबन्द, जोशन, परीबन्द, गले में हैकल, तौक़, तावीज़, गुलूबन्द, ज़ंजीर, कमर में कमरज़ेब और

पाँव में पायजेब, यह उन बीसों नामों को छोड़कर हैं, जो हिन्दी में बजा किये ” —नुकूशे सुलैमानी, पृ० ३० ।

कृपा होती यदि 'हिन्दी म बजा' वाले बीसों नामों की सूची भी सामने आ गयी होती। पर अभी उसके लिए कोई और अवसर ढूँढा जा रहा है। हाथ लगे तो काम सरे। परन्तु कहना हमें यह है कि यहाँ की भी कुछ खबर है या यों ही किसी कोश की फक रहे हो? विचार के लिए पहले 'पायजेब' को ही ले लो। सच सच तो कहो, सचमुच यह कोई नाम भी है अथवा धीरे धीरे अतिप्रयोग के कारण किसी विशेष आभूषण के लिए रूढ हो गया है? इसके लिए तो यहाँ कब से 'नुपुर', 'मजीर' आदि नामों का व्यवहार चला आ रहा है, जो सचमुच नाम है बनाव नहीं। यदि कभी—

नूपुरे एव जानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्[१]।

का आदर्श सामने न आया, तो भारत की पुण्यभूमि में जन्म लेना व्यर्थ गया और यदि 'कंकण' और किंकिणि, नुपुर, धुनि सुनि' की ध्वनि कान में न पड़ी, तो मानव चोला निष्फल गया।

पायजेब' पर विचार करते समय 'नूपुर' के साथ ही, 'कंकण' और 'किंकिणी' शब्द भी आ गये। कंकण' को 'दस्तबन्द' में मिला देखें और किंकिणी' को 'कमरजेब' में, फिर कहें तो सही असल कौन है। 'कमरजेब' का अर्थ आप समझ सकते हैं, 'कमरबन्द' को कुछ और लोग भी जानते हैं, पर 'काँची', 'करधनी', 'रशना' और 'मेखला' का कहीं आपके यहाँ पता नहीं। कारण आप हिन्द के अल्लामा हैं, हिन्दी सपूत हैं। अधिक क्या कहें? संक्षेप में यही जान लें कि किसी की ओर से आँख मूँद लेने पर उसका लोप नहीं होता, हाँ अपनी आँख अवश्य चली जाती है। अल्लामा साहब यदि आँख खोलकर फूटी आँख से भी 'अमरकोश' को देख लें, तो उन्हें आप ही दिखाई दे कि मुकुट, किरीट, चूडामणि, शिरोरत्न, तरल, बालपाश्या, पारितथ्या, पत्रपाश्या ललाटिका, (सिर के); कर्णिका, तालपत्र, कुण्डल, कर्णवेष्टन (कान के), ग्रैवेयक, कण्ठभूषा, लम्बन, ललन्तिका,

---

१—प्रतिदिन चरण-वन्दना के कारण केवल दोनों नूपुरों को ही पहचानता हूँ।

प्रालम्बिका उरःसूत्रिका, मुक्तावली, हार, देवच्छन्द, गुच्छ, गुच्छार्द्ध, गोस्तन, अर्धहार, माणवक, एकावली, नक्षत्रमाला, (गले के), आवापक, वलय, केयूर अङ्गद, अङ्गुलीयक, ऊर्मिका, अङ्गुलिमुद्रा कङ्कण करभूषण, (हाथ के), मेखला, कांची रसनी, रशना, सारसन, श्रृंखला (कटि के), पादाङ्गद, तुलाकोटि, मञ्जीर नूपुर, हंसक, पादकटक, (पैर के); किङ्किणी और क्षुद्रघण्टिका आदि न जाने कितने भूषणों के नाम यहीं आ गये हैं। इतने पर भी यदि संतोष न हो और यहाँ भी 'तौक़' ही देखना चाहते हों, तो उसे भी अपने मूल रूप में यहीं देख लें—

सुवर्णोपरि विन्यस्तरत्नराजिसमन्वितम् ॥ ३१॥
हरिन्माणिक्यनीलेन वृहता नायकेन च।
मध्यदेशनिविष्टेन मणिना परिशोभितम् ॥ ३२ ॥
पदक रुचिर रम्य वक्षःस्थलविभूषणम्¹।
नानारत्नविचित्र च मध्यनाय कसयुतम्¹ ॥ ३३ ॥

—मानसोल्लास अ० ८, पृ० ६३।

आशा है कि 'नानारत्न' से यह भी स्पष्ट हो गया होगा कि यहाँ वह सभी 'जवाहिरात' बहुत पहले से ही पाये जाते हैं, जिन्हें गिनाने की उक्त अल्लामा साहब ने भिरधुनी चिन्ता की है और जिनके उपरान्त उक्त आभूषणों की सूची खड़ी की है। तो भी यहाँ इतना और जान लें कि माणिक्य, मौक्तिक, प्रवाल, मरकत, पुष्पराग, हीरा, नील, गोमेदक और वैदूर्य के योग से अँगूठी बनती थी, वह 'नवग्रह' के नाम से ख्यात थी।

आच्छादन और अलंकरण के प्रसंग को समाप्त करते करते पान की सुधि आ गयी। देखा तो वही अल्लामा बोल रहे हैं—

पान हिन्दुस्तान की चीज़ थी मगर उस के लिए पानदान, खासदान उगालदान इसलामी तहज़ीब ने पेश किये।

—नुक़ूशे सुलैमानी, पृ० २९।

खैर पर तु ठहरिए तो सही। कोई 'संस्कृति' में कुछ कह रहा है, सुनिए —

१—पदक वक्षस्थल का सुन्दर रत्नजटित सुवर्ण का आभूषण है, उसमें नीली मध्यमणि जड़ी होती है।

तत्र रात्रिशेषमनुलेपनं माल्यं सिक्थकरण्डकं सौगन्धिकपुटिकामातुलुङ्गत्वचम् ताम्बूलानि च स्युः ॥ ८ ॥ भूमौ पतद्ग्रहः ॥ ९ ॥

—कामसूत्र, १, ४।

'सौगन्धिपुटिका' तो खासदान के लिए पर्याप्त है और 'पतद्ग्रह' 'उगालदान' ही। इसको 'प्रतिग्राह' भी कहते हैं। 'सिक्थकरण्डक' की भाँति ही 'ताम्बूलकरण्डक' भी मान लें अथवा—

इत्युपहसितकायास्ताम्बूलं कर्पूरसहितमुद्धृत्य मह्यं दत्त्वा

—दशकुमारचरित, पञ्चम उच्छ्वास

में 'उपहसितका' के प्रयोग को देख लें और कहें तो मुदा आपके यहाँ इसका संकेत क्या है।

जी तो नहीं चाहता, पर जैसे इतना कुछ हुआ वैसे ही थोड़ा और भी यह बतंगड़ चले। अल्लामा शिबली की खोज तो भारत के कोढ़ की खाज थी, पर उनके पट्टशिष्य अल्लामा सुलैमान की खोज कुछ और ही है, उसे जान लेना सबका काम नहीं। अल्लामा शिबली कहते हैं—

हिन्दू घोड़ों पर नंगी पीठ सवार होते थे या कम्मल वगैरह डाल लेते थे। तैमूरियों के अहद में घोड़े के लिए जो सामान पैदा हुए, जो उसकी तफसील यह है—जीन, अरतक़, पालपोश, पशमीनए पात, ज़ुल, तख्ताबन्द, पुश्ततंग, गगसरान, नुक्ता, कैजा, दस्तमाल, खरखरा, रिकाब।

—म० शि०, १०, १२७।

तो अल्लामा सुलैमान मुनादी करते हैं—

"घोड़े की सवारी यहाँ न थी। मगर जब मुसलमान यहाँ आये तो लगाम, जीन, तंग, ख़ूगीर, रिकाब, नाल, नुक्ता, ज़ुल, जिस की

१—रात्रि (में बचा हुआ) के समाप्त होने पर लगाया जानेवाला अनुलेप, माला, सिक्थकरण्डक, सौगन्धिक पुटिका, मातुलुङ्ग के छिलके और ताम्बूल वहाँ रखे हों ॥ ८ ॥ भूमि में पीकदान हो ॥

२—उपहसितका (पान की सामग्री से पूर्ण बटुआ) से कर्पूर सहित पान निकालकर मुझे देकर।

खराबी झोल है, सईस, सवार, शहसवार, ताजियाना, कमची, सब अपने साथ लाये।" —मुन्शी सुलैमानी, पृ० २९-३०।

स्मरण रहे गुरु कहता है 'जीन', 'झुल', 'तुक्का' और 'रिकाब' आदि तैमूरियों के अहद में पैदा हुए, पर शिष्य भरी सभा में घोषणा करता है कि मुसलमान इन्हें अपने साथ लाये। इतना ही नहीं उसका यह भी दावा है कि 'झोल' 'झुल' की खराबी है हो, पर कुछ इधर भी तो ध्यान दें। आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं—

"दड्ढम्मि झलुमिअं तह झलुंकिअ झामिअ चेअ। झंकारिअझख-रिआ अवचयणे झोलिआइ झलझलिआ॥ ५६॥ झलुमिअं झलुंकिअं झामिअं त्रयमपि दग्धार्थम्। झंकारिअं तथा झंखरिअं अवचयनम्। झलझलिआ झोलिका। झोलिकाशब्दो यदि संस्कृते न रूढस्तदायमपि देश्य.। यथा—तावझलुंकिअदवझलुसिओ तुह पयावझामिओ अ रिऊ। फलझंकारिअदलझंखारिआइं कुणइ झलझलिअहत्थो॥४७॥

—देशीनाममाला, तृतीयवर्ग।

'झोलिका' शब्द संस्कृत हो चाहे देश्य, पर है वह सर्वथा 'हिन्दी' शब्द ही। 'झोलिका' 'झोली' और 'झोल' में जो लगाव है उसको देखते हुए 'झोल' को संस्कृत नहीं तो हिन्दी कहने में कोई संकोच नहीं। और क्यों न खुलकर इसे हिन्दी कहें? कारण कि उधर भी तो लखनऊ का कोश बोल रहा है—

झोल, (हि०) मुबल्लस, १ हाथी के ऊपर डालने का कपड़ा। २ बैलों या कुत्तों के ऊपर डालने का कपड़ा। ३ बदनुमा-ढीलीढाली पोशाक। —नुरुल लुगात।

अस्तु, कोई कारण नहीं कि हम 'झोल' को शुद्ध हिन्दी न मानकर किसी अरबी 'झुल' की 'खराबी' मानें और किसी प्रमादी अल्लामा के झलझल को प्रमाण मानें। 'झोल' फिर भी झोल ही ठहरा। उसके ढीले-ढाले संकेत से किसी को कहाँ तक कहा जा सकता है अच्छा, तो सब झगड़ा के लिए 'सवार' को चुन लीजिये और देखिये तो सही यह किधर दौड़ लगाता है, लीजिये फिर यह लखनऊ का कोश बोल रहा है—

"सवार-(फा०) असल में असवार था। अस्व—अस्प का मुबद्दल और कलमा निसबत मुज़फ़र, घोड़े का सवार। फ़ारसी सिर्फ़ हैवानात (पशु) के सवार को सवार कहते हैं। जैसे शुतुर (उष्ट्र) सवार, फ़ीलसवार, अस्पसवार। हिन्दोस्तान के फ़ारसीदानों ने हर सवारी पर बैठनेवाले पर सवार लफ़्ज़ बोला। जैसे पालकी सवार २ चढनेवाला, सवारी पर बैठा हुआ। ३ घोड़े का सवार। रिसाला का मुलाज़िम"
—नूरुल लुग़ात।

निवेदन है कि 'असवार' वस्तुत 'अस्व' और 'आर' से नहीं, प्रत्युत 'अश्व' और 'वार' अर्थात् 'अश्ववार' से बनता है। महाकवि माघ कहते हैं—

शिलष्यद्भिरन्योन्यमुखाग्रसङ्गस्खलत्खलीनं हरिभिर्विलोलैः।
परस्परोत्पीडितजानुभागा दुःखेन निश्चक्रमुरश्ववाराः ॥६६॥
—शिशुपालवध, तृतीय सर्ग।

अर्थात् परस्पर मुख के अग्रभागों में लगने से लगामों के गिरने पर रगड़ते हुए चंचल घोड़ों से सवार लोग, परस्पर में रगड़ते हुए घुटनेवाले होकर निकले। —कालीचरण शर्माकृत अनुवाद।

शर्माजी ने प्रत्यक्ष ही 'खलीन' को 'लगाम' और 'अश्ववार' को 'सवार' समझा है। टीकाप्रवीण श्रीमल्लिनाथ लिखते हैं—

अश्वान्वारयन्ति ये तेऽश्ववारा अश्वारोहा[1]।

कहने की बात नहीं कि आज भी 'पूरब' की ठेठ जनता 'अश्ववार' को 'असवार' ही बोलती है कुछ सवार नहीं। 'अश्ववार' आज 'सवार' हो गया तो कोई क्षति नहीं, पर वह मुसलमानों की कृपा से विलायती कैसे हो गया, कुछ इसका पता है या यों ही बाहरी भूत सवार हो गया है? 'खलीन' अर्थात् 'लगाम' के साथ आपने 'अश्ववार' 'असवार' अर्थात् 'सवार' को देख लिया, अब उसी को 'पर्याण' 'पलान' अर्थात् 'ज़ीन' के साथ देखिए—

१—जो घोड़ों को रोकथाम करते हैं, वे अश्ववार अर्थात् सवार कहलाते हैं।

पेश्वाल पुच्छपिच्छैश्च लोहितैर्भ्राजिता भृशम् ।
शङ्खैर्मणिप्रवृत्तैः कू (क) एल्कनकशृङ्खलै ॥ ९० ॥
पदकैः पादुकाभिश्च हेमकिङ्किणिकान्वितैः ।
ग्रीवासु मण्डितानश्वान् कुङ्कुमेनोपलेपितान् ॥ ९१ ॥
छत्रचामरसंयुक्तान् पुरतः काहलान्वितान् ।
प्रस्थापयेच्च वाह्यालीं स्वयं यायात्ततो नृपः ॥ ९२ ॥
—मानसोल्लास अ० ४, विं०

और कुछ नहीं यदि श्रीसोमेश्वर भूपतिविरचित 'तुरग वाह्यालीविनोद' को ही देख ले, तो उसकी आँख खुल जाय और वह सभी प्रकार से देख ले कि मुसल[illegible] के आने के पहले यहाँ क्या कुछ और कैसा कुछ था। सुवर्ण के 'पादाधार' 'रिकाब' हैं ही, पर सुवर्ण के 'कटक' ऊपर से और हैं।

और तो नहीं, पर चलते चलते इतना अवश्य मान लें कि मुसलमानों के [illegible] के पहले यहाँ जूते भी बनते थे। 'पादुका' तो काठ की भी बनती है और [illegible]

१—राजा के प्रस्थान के समय उसके आगे सुन्दर सुसज्जित घोड़ों की पं[illegible] को रखना चाहिए। ये घोड़े धँसे हुए हों, इनके ऊपर हाथी के दाँत के बने पय[illegible] हों और मोती-माणिक्य जड़े सोने के पट्ट आदि से सजे हों ॥ ८४ ॥ गैंडे की खा[illegible] अर्थात् ढाल जिनके बँधी हो और विविध वर्णों के पटोपट्ट छाती तथा पूँछ पर [illegible] हों ॥ ८५ ॥ इनके दोनों ओर सोने के पदाधार (रकाब) लटक रहे हों, कंट[illegible] बालों को पट्ट तथा सोने के कटक हों ॥ ८६ ॥ चिकने और सुन्दर आकर्षवर्धक मध्यभाग से कसे हुए हों और मुँह में सोने की कण्ठिका लगी हुई हो ॥ ८७ [illegible] मस्तक पर पट्ट हों और बल्गा चाँदी की 'लाली' के डोर से बँधी हो ॥ ८८ [illegible] मोती जड़े और मणिखचित सुवर्ण के निबन्धक पर्यन्त में शोभित हों, व्याघ्र की पू[illegible] उनकी शोभा बढ़ा रही हो ॥ ८९ ॥ पेश्वाल की पूँछ के लाल बालों और श[illegible] से उत्पन्न मणियों और झनकार करती सोने की जंजीरों से सुसज्जित हों ॥ ९० [illegible] पदक और पादुका से भूषित हों, गले में सोने की छोटी घंटियाँ बँधी हों, कुंकु[illegible] लगा हो ॥ ९१ ॥ ऐसे छत्र चामर से सजे, काहल (बड़े ढोल) से संयुक्त घो[illegible] को पहले प्रस्थान कराके राजा को स्वयं चलना चाहिए ॥

इसका संकेत भी 'खड़ाऊँ' की ओर ही अधिक जाता है, पर कभी वह चाम की भी बनती थी औ 'पादूक' 'चर्मकार' का पर्याय भी था, किन्तु 'मोचक' तो चाम का ही होता है और 'मोचिक' वा 'मोची' से उसका घना सम्बन्ध भी है। अच्छा होगा, इसी शब्द के प्रसंग में उसका प्रयोग भी जान लें और समय पर अड़ियल लोगों को सीधे मार्ग पर लाने का उपाय भी जान जायें। श्रीसोमेश्वर भूप का मत है—

मोचकस्य प्रकर्तव्याः पार्ष्ण्यन्ते लोहकण्टकाः।
तैः कुक्षौ ताडनीयोऽसौ धावनार्थं तुरङ्गमः॥ ६७॥
—मानसोल्लास ४-४।

बस इससे अधिक इस प्रसंग को और बढ़ाना ठीक नहीं। अपने देश के अल्लामा अपने जन्मदेश को कितनी जानते हैं इसे तो यों भी जाना जा सकता है, फिर उनकी अनुपम खोज की चर्चा ही क्या? तो भी इतना तो जान ही लें कि उनकी दिव्य दृष्टि में 'भारत' का अर्थ कहीं अर्जुन नहीं होता। कहते हैं—

ऐ भारत (संस्कृत में भारत हिन्दुस्तान को कहते हैं। चूँकि इस मुल्क का पहला राजा दुशन्त का बेटा 'भारत' नामी हुआ है, इसलिए इसके नाम से हिन्दुस्तान को भारत कहने लगे—मुतरज्जिम) जब सचाई को ज़वाल और झूठ को फ़रोग़ होने लगता है, तब मैं (ख़ुदा) ख़ुद ज़हूर (प्रकट) करता हूँ। नेकों की हिफ़ाज़त करने, बदकारों को सज़ा देने, सदाक़त की निगहबानी और उसको कतई तौर पर क़ायम करने के लिए मैं ख़ुदा बार-बार (या वक्तन् फ़ोक्तन्) जन्म लेता रहता हूँ।

—हक़ीकत इसलाम, नोट्स आन इसलाम। मुतरज्जिम मौलवी अलीबशीर साहब, अंजुमन उर्दू प्रेस औरंगाबाद, दकन, सन् १३४२ हि०, पृ० ६२-३।

समझ में नहीं आता कि फिर भी हमारे देश के मौलाना यह क्यों नहीं मानते कि उनके शुभागमन के पहले भी इस देश का कोई नाम था? गीता का यह ज्ञान

१—मोचक की पार्ष्णि (एड़ी) के अन्त में लोहे के काँटे बनाने चाहिएँ। घोड़े को दौड़ाने के लिए इन्हीं लोहे के काँटों को उसकी कुक्षि में चुभाये।

अनवारेण यः सक्रमाद्दैन पतेद्भुवि ।
पार्यिणविहीनं तमन्यमारोप्य वाहयेत् ॥ ६२ ॥

— मानसोल्लास अ० ४, वि ४।

घोड़े पर चढ़ने की विधि पर ध्यान दें और 'वक' तथा 'वल्गा' को भी पहचान लें। उसी माघ का कहना है—

स्थैरं कृताश्फालनलालिनान् पुरः स्फुरत्तनून्दर्शितलाघवक्रिया ।
वक्त्राविलग्नैकसवल्गपाणयस्तुरङ्गमानारुरुहुस्तुरङ्गिणः ॥ ६ ॥

—१२ सर्ग।

अर्थात् सवार लोग सन्मुख धीरे धीरे सुहराने से सावधान किये गये शरीरों के कँपानेवाले घोड़ों पर शीघ्रता दिखायी गयी है जिनमें, ऐसी क्रियावाले वक (जीनपोश के किसी एक भाग में) लगे हुए और एक लगाम सहित हाथवाले होकर चढ़े। —वही अनुवाद।

स्मरण रहे कि मल्लिनाथ ने—

सवल्गो मुखरज्जुसहितः ।

लिखा है, जिसका अर्थ है कि 'वल्गा' वास्तव में 'लगाम' या 'बाग' नहीं, अपितु बागडोर है। लगाम के लिए 'खलीन' पहले आ चुका है।

सैयद सुलैमान साहब को 'तंग' भी मुसलमानी दिखाई देती है, पर यहाँ पहले से ही 'वर्ध' विराजमान है। प्रमाण के लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं। वही माघ इसके लिए भी पर्याप्त है देखिए —

गत्यूनमार्गगतयोऽपि गताध्मार्गा स्थैरं समाचकृपिरे भुवि वेल्लनाय ।
दर्पोदयोल्लसितफेनजलानुसारसल्लक्ष्य पल्ययनवर्धपदास्तुरङ्गा ॥६०३॥

—५ सर्ग।

अर्थात् विशेष गमन से रहित मार्ग की गतिवाले भी चढ़े मार्ग में प्रस्थान करनेवाले, तेज की प्रकटता से फेनरूप हुए उद्धत स्वेदजल के

१—जो चढ़े हुए सवार के सब पृथ्वी पर गिरे। पर्याणक (जीन) से हीन उस पर दूसरे को बैठाकर बहलावे।

अनुसार जाने गये पल्ययन वर्ध्र (काठी की रस्सी अर्थात् तंग) चिह्नवाले घोडे पृथ्वी में अंगों के लौटाने के लिए धीरे-धीरे खैंचे गये।

—वही अनुवाद

'तंग' का पर्याय आपको मिला भी तो 'वर्ध्र' जिसकी निरुक्ति है—

वर्द्धते दृढबन्धनाद्दीर्घीभवतीति वर्ध्रम्[1] अथवा वर्द्धन्ते इति वर्द्ध्राणि पर्याणबन्धनरज्जवः[2]। —शिशुपालवध १८, ५।

अर्थात् 'वर्ध्र' 'तंग' के प्रतिकूल बढ़ने का द्योतक है। एक का ध्यान वृद्धि पर है तो दूसरे का संकोच पर। हिन्दू और मुसलमान की प्रवृत्ति में जो भेद है, वह यहाँ भी व्यक्त है। अधिक कौन कहे थोड़े में भलीभाँति जान लें कि यहाँ मुसलमानों के पहले घोड़े की सज्जा क्या थी। लीजिये वह सामने है—

गजोष्ट्रसन्निधानाच्च त्रासो येषां न जायते।
तानेव शिक्षितानश्वानादायात्यन्तमुत्तमान्॥ ८३॥
सज्जीकुर्याच्च पर्याणैर्दन्तिदन्तविनिर्मितैः।
सौवर्णपट्टभूषाद्यैर्मुक्तामाणिक्यशोभितैः॥ ८४॥
द्वीपिचर्मपिनद्धैश्च पट्ठीपट्टविराजितैः।
उरोनद्धैर्नानावर्णैः सुशोभितैः॥ ८५॥
पादाधारैश्च सौवर्णैर्लम्बिभिः पार्श्वयोर्द्वयोः।
चतुरामकृतैः पट्टैः सौवर्णैस्टकान्वितैः॥ ८६॥
आकर्षवर्धके श्लक्ष्णैर्मध्यभागनिपातितैः।
हैमिभिः कण्ठिकाभिश्च सलग्नाभिर्मुखे पुनः॥ ८७॥
मरतकस्थेन पट्टेन वृताभिर्गण्डवर्धके।
रौप्यनिर्मितलाली ला। ना बद्धवल्गाभिरन्तयोः॥८८॥
रत्नकाञ्चनयुक्तेन मुक्ताजालचितेन च।
निबन्धकेन पर्यन्ते व्याघ्रशाङ्ग (ङ्ग) लशोभिना॥ ८९॥

१—वध्र वह है जो बढ़ता है अर्थात् कसकर बाँधने से लम्बा होता है।

२—बढ़ते हैं इसलिए वर्ध्र कहलाते हैं। वध्र अर्थात् पर्याण बाँधने के वस्त्र (हाथी या घोड़े के पेट में बाँधने की पेटी)।

किसे नहीं शोभा देता ? हम तो यह भी जानते हैं कि अभी उस दिन एक मौलाना ने वली के एक शेर की व्याख्या लिख दिया था—'काशी जिसको इलाहाबाद कहते हैं'। अच्छा यही रहा कि इनकी यह खोज यहीं तक रह गयी, अन्यथा क्या होता हम नहीं कह सकते । अच्छा, तो वली का कहना है—

श्री अहसन साहब मारहरवी की इस खोज को योग मिला है मौलवी, अब, डाक्टर अब्दुल हक साहब के द्वारा और यह प्रकाशित है उर्दू की प्रसिद्ध संस्था अंजुमन तरक्की उर्दू (हिन्द) से । इससे भी बढ़िया खोज है उक्त अल्लामा शिबली नोमानी की । कहते हैं—

हिन्दुओं में सबसे बड़ा शाइर आखिर जमाना का कालिदास गुजरा है जिसने रामायण भाषा में तरंजुमा किया है ।

—मोकामात शिबली जिल्द, पृ० ८१ ।

अब आप ही कहें, जिस देश के अल्लामा कालिदास और तुलसी, काशी और इलाहाबाद को एक ही समझते अथवा इनमें से एक को भी नहीं जानते हैं उसका उद्धार कैसे हो सकता है ? हा ! हन्त !

मुसलमान का खून

कहते और हम भी खुलकर कहना चाहते हैं कि मुसलमानों में 'खून' का विचार नहीं, पर करें क्या कोई पोथी खोलकर सप्रमाण कह रहा है कि—

हजरत आयशा के पास कबीला बनू तमीम की एक लौंडी थी। रसूलअल्लाह सलअम ने देखा तो फरमाया कि इसको आजाद कर दो, क्योंकि यह इसमाईल की औलाद में है। इससे साबित होता है कि खुद आप अहूल अरब का गुलाम बनाना पसन्द नहीं फरमाते थे। लेकिन हजरत उमर ने आम क़ानून बना दिया कि अरब का कोई शख्स गुलाम नहीं बनाया जा सकता। चुनाचे हजरत अबू बकर के अहद खिलाफत में कबायल मरतदा के जो लोग गिरफ्तार हुए थे उनको उन्होंने इसी बिना पर आजाद कर दिया।

इसलाम के पहले अरब के जो लोग लौंडी या गुलाम बनाये गए थे उनकी निस्बत यह हुक्म दिया गया कि अगर किसी कबीला का कोई शख्स किसी कबीला में गुलाम बना लिया गया हो तो वह उससे बदले में दो गुलाम बतौर फिदया (प्रतिकार) के देकर आजाद करा सकता

है। इसी तरह एक लौंडी के एवज में दो लौंडी देकर आजाद कराई ज सकती है।—उसवह सहावा, मारिफ प्रेस, आजमगढ़, १९२२ ई० पृष्ठ १४०।

मौलाना अब्दुलस्सलाम नदवी ने जो कुछ 'गुलाम' के विषय में लिखा है उससे सिद्ध होता है कि स्वयं औं अज़रत मुहम्मद साहब की दृष्टि में कोई अरब तो गुलाम नहीं हो सकता पर किसी अरबेतर के होने में कोई चिन्ता नहीं। फिर क्या था, उनके खलीफा ने हुक्म निकाल दिया कि एक अरब गुलाम की जगह दो अरबेतर गुलाम देकर उसे मुक्त करा लो। लो इसलाम में अरब और अरबेतर का विवाद छिड़ गया और स्वयं रसूल की कृपा से इसमाईल की सन्तान को महत्त्व मिल गया। इसलाम की एकता कहाँ गई?

कहते हैं कि 'खून' सिर पर सवार रहता है और जब सिर पर सवार होता है तब किसी की सुनता भी नहीं। निदान इसलाम में हुआ भी यही। स्वय अरब आपस में भिड़ गए। उमय्यावंश ने हाशिमी वंश का अन्त किया तो अब्बासियों ने उमय्या वंश का। परिणाम यह हुआ कि इसलाम क्षीण हो गया और एक दिन ऐसा भी आ गया कि स्वय अरब तुर्कों का गुलाम हो गया और उसकी खिलाफत भी अरबी हाथ से निकलकर तुर्की हाथ में चली गई। खलीफा उमर का फतवा धरा ही रह गया और शक्ति ने अपना हाथ दिखा दिया। अरब में उसमानी तुर्कों का 'खुतबा' पढ़ा गया।

मुहम्मद साहब ने 'अरब' को महत्त्व दिया तो अरब ने उनके वंश को। परन्तु उनकी सन्तान इतनी सबल न निकली कि खूनी अरब का शासन-सूत्र सँभाल सकती। निदान करबला का हत्याकांड हुआ और इसलाम दो फाँक में बँटकर न जाने कितने टुकड़ों में हो गया। खिलाफत रसूल के सम्बन्धियों से निकलकर उनकी पट्टी में चली गई और इसलाम में पट्टी की होड़ लगी रही। कहने को चाहे जो कहा पर पक्की प्रतिष्ठा मुहम्मदी खून ही को मिली। फातिमी इसलाम के पूज्य बने। यहाँ तक कि—

"इदरीसी हुकूमत की वजह से यहाँ जाबजा (जगह जगह) सादातकी बस्तियाँ हैं और उमूमन् यह लोग आजाद हैं। जहालत के सबब से इनकी

ब्लाकी हालत निहायत पस्त (गिरी हुई) है। 'हदीदा की मशरिकी निब (पूर्वी ओर) उनकी एक बस्ती है। उसमें तमामतर सादात बाद हैं। तमाम अतराफ़ (चारो ओर) में उनकी ताज़ीम (सम्मान) रस्तिश (पूजा) की हद तक होती है। ख़्वाह कैसा ही जाहिल सैयद गें न हो, लेकिन उसकी दस्तबोसी (हाथ चूमना) हर श़.ख्स पर फ़र्ज़ । इस सूरते हाल (वर्त्तमान दशा) ने और ज़्यादा ख़राब आदतें पैदा कर हैं। सादात कशकोल (भिक्षापात्र) लेकर बाज़ार निकल जाते हैं र जिस दूकान से जो चाहते हैं बिला क़ीमत उठा लेते हैं। कोई रोक हीं सकता। और वह ग़ल्ला, तरकारी, गोश्त और मिठाई से कश- ल भर के वापस आ जाते हैं। उनमे सियादत (कुलीनता) का इतना रूर है कि अगर कोई सैयद अहूले बैत (अपने घराने) के अलावा कसी और घराने में शादी कर ले और उसके बतन (गर्भ) के बच्चा दा हो तो उस औरत पर जरूरी है कि माँ होकर भी रोजाना अपने सैयदज़ादा' बेटे की दस्तबोसी और कदमबोसी करे और लड़का उसको गैंडी से ज्यादा वक्अत (महत्त्व) न दे।

—अरब की मौजूदा हुकूमतें, मारिफ़ प्रेस आज़मगढ़, १९३४ ई०, ृ० ६५–६६।

शाह मुईनउद्दीन अहमद नदवी ने अरब के इदरीसी राज्य के जिस सैयदी आतंक का परिचय दिया है उसी को सामने रखकर जनाब सर सैयद अहमद खाँ बहादुर के इस दर्पभरे अभिमान पर ध्यान तो दीजिये और फिर कहिए तो सही स्वयं इसलाम में यह पैगम्बरी खून कितना गजब ढा रहा है। आप कहते हैं—

पहले तो हम घबराए कि यह साद उल्लाह साहब कौन हैं। वही हैं जिनको हमने दिल्ली में देखा है, और यह वही साद उल्लाह साहब हैं जिन्होंने लखनऊ में एक नेकब़.ख्त मुसलमान आल रसूल (रसूल की सन्तान) इब्न अली (अली के वंशज) औलाद नबी के कुफ़्र और कत्ल का फतवा देकर अशरा (दस दिन) मुहर्रम मे उनका सिर हनुमानगढ़ी से नेजा (भाले) पर चढ़ाकर लखनऊ म लाना चाहा

था तो हमारा दिल ठण्डा हो गया और समझे कि आल रसूल के कत्ल व ज़ुल्म पर फतवा देना उनका कदीमी पेशा है।

—त० अ०, १२९० हि०, पृ० ३।

तो क्या आप जानना चाहते हैं कि स्वयं सर सैयद अहमद खाँ बहादुर किस रग में हैं। लीजिए आप ही श्रीमुख से फरमाते हैं—

अब हम इस ख़ुतबा (प्रवचन) के खातमा में अपने पैग़म्बर का नसबनामा (वंशक्रम) जिस तरह पर कि हमने तहकीक किया मुन्दर्ज (लिखित) करते हैं और जो कि मुझको भी इस बात का फख्र हासिल है कि मैं भी उसी आफ़ताबे (सूर्य) आलमे (संसार) ताब (तेज) के जर्रों (कण) में से हूँ इसलिए अपने नसबनामा को भी उसके साथ शामिल कर देता हूँ ताकि जो रुहानी (आत्मिक) इरतिबात (सम्बन्ध) मुझको उस सरवर (नेता) दो जहाँ से है और जो खून का इत्तिहाद मुझमें और उस सरवर आलम (विश्व नियन्ता) में है और जिसके मनब लहमक लहमी (मांस का मांस) दम्मक दमी (प्राण का प्राण) का हमारा मौरूसी खिताब हैं उस ज़ाहिरी इरतिबात से भी मुअज़्ज़िज़ (प्रतिष्ठित) हो जावे।

—त० अ० १२९३ हि०, पृ० १२३।

श्री सर सैयद अहमद खाँ ने अभी अभी जिस मौरूसी किंवा बपौती का उल्लेख किया है उसके सामने किसी की बात क्या कि उनसे प्रश्न करे कि हज़रत! इस्लाम में विरासत है भी, और है तो किसकी अरब या रसूल की? तो भी इतना तो हम देख ही सकते हैं कि समय आने पर वे स्वयं इस मौरूसी हक के विपरीत हो जाते और कहते हैं कि—

अभी तक मेरी रगों में अरब का खून गर्दिश (चक्कर) करता है और फिर मेरा मज़हब यानी इसलाम, जिस पर मुझे पूरा और पक्का यकीन है, वह भी रेडिकल (गतिशील) उसूलों को सिखलाता है और शख्सी गवर्नमेंट से मुवाफ़िक नहीं और न लिमिटेड (सीमित) मानर्की (शाह-शाही) को मानता है। बल्कि मौरूसी हुकूमत नापसन्द करता है। एक प्रजीडेंट जिसको लोग मुन्तख़ब करें उसी को इसलाम पसन्द करता है और इस बात को पसन्द नहीं करता कि दौलत एक जगह इकट्ठी रहे।

इसी उसूल के मुताफ़िक़ इसलाम के बानी (संस्थापक) ने यह क़ायदा बनाया कि बाद फ़ौत (मरण) हो जाने किसी श़ख़्स के उसकी जायदाद बहुत-से आदमियों में तक़सीम (विभाजित) हो जावे क्योंकि कितनी ही ज्यादा जायदाद क्यों न हो वह बाद दो नस्लों के यक़ीनन् बहुत से हिस्सों में तक़सीम हो जावेगी। बस मैं दोनों तरह क्या बलिहाज मजहब और क्या बलिहाज़ ख़ून के रेडिकल हूँ।

—हयात जावेद, वही, पृ० २९७-९८।

किन्तु 'इसलाम' के भीतर कठिनाई यह आ पड़ी कि—

अह्ल अरब इस बात को पसन्द नहीं करते कि बजाय इसके कि वह ख़ुद अपने ऊपर हुकूमत करें कोई और उन पर हुकूमत करे। इस वक्त तक अह्ल अरब आज़ाद हैं और अपने मशायख़ (शेख़ों) के झंडों के नीचे रहते हैं। वह अपनी आज़ादी को तमाम दुनिया की निअमतों (विभूतियों) से बेहतर जानते हैं, ऊँट चराते हैं, जौ पर जिन्दगी बसर करते हैं, ऊँटनियों का दूध पीते हैं और अपनी आज़ादी में ख़ुश रहते हैं। —हयात जावेद, वही पृ० २९७, द्वि० भाग।

इसमें तो सन्देह नहीं कि 'बद्दू' अरब किसी की नहीं सुनते और नागरिक अरब भी स्वतन्त्र रहना चाहते हैं पर कभी उनको पराधीन होना ही नहीं पड़ा, यह ठीक नहा। अरब बहुत दिनों तक तुर्कों के अधीन रहा और अन्त में अपने 'ख़ून' के जोश में आकर और अँगरेजों की शह पाकर अपने आपको 'इत्तहाद इसलाम' अथवा तुर्कों के शासन से अलग कर लिया और 'इत्तहाद अरब' के चक्कर में आकर 'इत्तहाद इसलाम' को खो दिया। सच पूछिए तो इसलाम को खोखला अरबी 'ख़ून' ने ही किया। यदि तुर्कों के राज्य को इसलाम से निकाल दिया जाए तो पता चले कि अरब का 'ख़ून' कभी का बोल चुका था और आज भी तुर्कों के सामने ठहर नहीं सकता। हमें भूलना न होगा कि यह तुर्क ख़ून ही था जिसने गिरते समय इसलाम की लाज रक्खी और यह 'तुर्क' शब्द ही है जो हिन्द और यूरोप में भी 'मुसलमान' का पर्याय बना और सन्धि पत्र में भी स्थान पा गया। स्मरण रहे यह वह 'तुर्क' है जिसके संबंध में स्वयं 'अरब' का कहना है—

तुर्कों को छोड़ दो अगरचे भाई हुआ हो। वह अगर मुहब्बत करेगा तो तुझे खा जाएगा और दुश्मन होगा तो मार देगा।

—रोज़नामचा सियाहत, शम्सुल अनवार प्रेस, मेरठ, सन् १९१२ ई०, पृ० १७१।

यह है 'तुर्क' का आतंक और यह है तुर्क खून का प्रताप कि इसके सामने हाशिमी खून हवा हो गया और स्वयं सर सैयद साहब को भी मुसल्मानी भेद के लिए 'टर्किश लिबास' अपनाना पड़ा। तो भी अन्त में अरबी खून से उसे धोखा हुआ और उसका सारा गौरव जाता-जाता कुछ रह गया। स्वयं अरब ने इसलाम को तोड़ दिया और मसीही का साथ किया।

विदेशों में मुसलमानों के पतन का कारण चाहे जो कुछ भी रहा हो पर भारत में उनके पतन का कारण तो कुछ और है। सुनिए सर सैयद अहमद खाँ के खलीफा नव्वाब मुहसिन मुल्क सैयद मेंहदीअली खाँ बहादुर बतलाते हैं—

चौथा सबब जो खास हिन्दुस्तान के बदनसीब मुसलमानों के तनज़्ज़ुलात (अवनतियाँ) का सबब हुआ हिन्दुस्तान का वतन कर लेना और अपने असली वतन का छोड़ देना है। मुसलमान जब कि हिन्दुस्तान में आए उस वक्त निहायत तनोमन्द (हट्टकट्टे) और सुर्ख व सुफ़ेद और कवी (पुष्ट) व तन्दुरुस्त थे। तबीयतें भी उनकी आज़ाद थीं। दिलों में भी उनके एक जोश था। रसूम (रूढ़ियों) की पाबन्दी से उनको ज़रर न थी। मगर जब हिन्दुस्तान को अपना वतन बना लिया, और उन कौमों से मिल गए जो कि उनसे कूवत (बल) में, दिलेरी में आज़ादी में, इल्म में, मुआशरत (समाज शास्त्र) में कम थीं और छूत और परहेज़ और रस्मों की पाबन्दी और तंग ख़यालात (तुच्छ विचार) उनके रग व रेशा में समा रहे थे तो रफ्ता-रफ्ता वह भी वैसे ही हो गए। उनकी असली हालतें बिल्कुल बदल गई। वह खून जो इब्राहीम की रगों का हममें था बदल गया। वह हड्डी जो इसमाईल के खून से बनी थी बदल गई। वह दिल जिसमें हाशिमी जोश था बदल गया। गर्ज़ कि चमड़ा बदल गया, रंग बदल गया, सूरत बदल गई,

सीरत (प्रवृत्ति) बदल गई, दिल बदल गया, ख़याल बदल गया, यहाँ तक कि मजहब भी बदल गया। तमाम वह जोश जो उठ थे उस रेतीले जंगल अरब से जिसने फारस और तमाम सेंट्रल (मध्य) एशिया को सरसब्ज (हराभरा) व शादाब (सरस) कर दिया था हिन्दुस्तान में आकर वे आबू बंगाल (बंगाल की खाड़ी) में डूब गए।

—तं० अ०, १२९० हि०, पृ० १५३।

सैयद महदी अली खाँ के इस कथन में कितना तथ्य है इस पर विचार करने की आवश्यकता नहीं। हम नहीं समझते कि कभी इतिहास में इब्राहीम, इसमाईल और हाशिम ने भी कोई करतब दिखाया हो और किसी भूखंड पर अरब राज्य स्थापित किया हो। मुहम्मद साहब ने जो कुछ किया अल्लाह के नाम पर किया अरब या खून के बूते पर नहीं। हिन्दुस्तान में अरब शासन बस कहने को रहा, करने को नहीं। फिर यह 'इब्राहीमी खून' 'इसमाईली हड्डी' और 'हाशिमी जोश' का मरसिया कैसा? अरे! यदि हिन्दुस्तान को सर किया तो तुर्कों ने जिन्होंने अल्लाह के घर को भी अपना लिया और 'इब्राहीमी खून' को नहीं तो 'इसमाईली हड्डी' और 'हाशिमी जोश' को तो अवश्य ही उन्हीं के घर में शान्त कर दिया। उन्हें छोड़ा ही नहीं कि 'बे आबू बंगाल' में आ डूबते। यहाँ आ डूबने का सौभाग्य अरब को कभी नहीं मिला। और मिला भी तो वह 'रेतीला जंगली जोश' सिन्ध की रेतीली भूमि में समाकर रह गया। उससे तनिक भी आगे न बढ़ सका। सोचिए तो तनिक, कहाँ सिन्ध और कहाँ न आबू बंगाल! खुलवाई फस्द किसने दौड़ा लहू किधर को! फिर भी अभिमान है अरब का। क्या खूब!

किन्तु नहीं नहीं, सैयद महदी अली खाँ को तो इसका भी अभिमान है कि अपने मूल देश में इब्राहीमी खून में कोई 'छूत और परहेज' न था यह तो यहाँ आ बसने से उसमें जा घुसा। अच्छा यही सही, पर कृपया कहिए तो सही इब्राहीमी खून के साथ यह बरताव किसका खून कर रहा है। देखिए—

जैदी अपने अन्धे तास्सुब (द्वेष) और यहूद की जबली (पहाड़ी) सिफाहत (व्यभिचार) की वजह से उनको जानवर से ज्यादा वकअत

नहीं देते। रास्ता चलते गालियाँ देते हैं, तमाम ज़ैदी मुसल्लह (सशस्त्र) हैं। रास्ता में कहीं यहूदी नजर आया ख्वाह वह गरीब उनसे अलग ही चल रहा हो, लेकिन यह बन्दूक के कुन्दे पर हाथ रखकर उसको डाँट जरूर बताएगा कि कम्बख्त (हतभाग्य) यहूदी खुदा तुझे ज़लील (नीच) व रुसवा (अपमानित) करे। रास्ता छोड़कर चल। यह सज़ा यहीं पर खतम नहीं होती वल्कि ज़ैदी गालियाँ बरसाता हुआ बढ़कर उसके मुँह पर थूक देता है और कहता है—अगर इमाम के अद्ल (न्याय) का डर न होता तो तुझको जबह (वध) कर डालता। यहूदियों के लिए चान् खास क़वानीन (कानून) हैं जो उनको मुसलमानों से मुमैयज़ (बिलग) करते हैं। यह तर्जे अमल सिर्फ जैदियों का है वरना हुकूमत के नजदीक दोनों को एक सौ हुकूक हासिल हैं।

—अरब की मौजूदा हुकूमतें, वही, पृ० ७४।

कहना नहीं कि ज़ैदी इस्राईमी हैं, इसमाईली हैं, हाशिमी हैं और हैं सब से बढ़-चढ़कर 'आल रसूल' 'इब्न अली', 'औलाद नबी' याने फातिमी। फिर इनके दर्प को कौन रोके, इनके दम्भ को कौन देखे! क्या अन्यत्र भी किसी को यह दैवी रूप दिखाई देगा? यह 'छूत' नहीं, 'परहेज' नहीं, अन्याय नहीं, घोर अत्याचार है अत्याचार। जो होता है 'रसूल' के 'खून' के द्वारा। उसी रसूल के खून के द्वारा जिसने स्वयं कभी यहूदी बाना धारण किया और उनके मजहब से बहुत कुछ ग्रहण किया। विश्वास न हो तो किसी अल्लामा से पूछ देखिए। लीजिए अल्लामा शिबली से निपुण कहते हैं—

अरबों में जिना (व्यभिचार) की कोई सजा मुकर्रर न थी। यहूदियों में तौरात की रू से जानी (व्यभिचार) की सजा 'रज्म' यानी संगसार करना (पत्थर से मार डालना) मुकर्रर थी। लेकिन अखलाकी (सदाचारी) कमजोरी की बिना पर इस कानून को जारी नहीं रख सकते थे। अतराफ़ (प्रदेश) 'मदीना' में जो यहूद आबाद थे रज्म के बजाय उन्होंने यह सजा मुकर्रर की थी कि मुजरिम (अपराधी) के मुँह में कालिख लगाकर कूचा (गली) व बाजार में उसकी तशहीर

(प्रदर्शिनी) करते थे। जब आँ हज़रत सलअम मदीना तशरीफ़ लाए तो उन्होंने एक मुजरिम का मुक़दमा आपकी ख़िदमत में पेश किया। ग़ालिबन् यह सन् ३ हि० के अन्दर का वाक़आ है। आपने इसतिफ़सार (जिज्ञासा) फरमाया कि तुम्हारी शरीअत में इस जुर्म की क्या सज़ा है। उन्होंने अपना रवाज बताया। आपने तौरात मँगवाकर उनसे पढवाया। उन्होंने रज्म की आयत पर उँगली रखकर छिपा दी। आख़िर एक मुसलमान यहूदी ने निकालकर वह आयत सुनाई। आपने फरमाया—ख़ुदावन्द! यह तेरा हुक्म है जिसको इन लोगों ने मुरदा कर दिया है। मैं सबसे पहला शख़्स हूँ जो तेरे इस हुक्म को ज़िन्दा करूँगा। चुनान्चे आपने उसके संगसार करने का हुक्म दिया और वह संगसार किया गया।

—मीरतुल नबी, हिस्सा अव्वल मुजल्लद दोम, मारिफ़ प्रेस, आजमगढ़, सन् १२५१ हि०, पृ० १३६।

आँ हज़रत को इतने से ही सन्तोष न हुआ। उन्होंने कुछ दिनों तक किताबी बाना भी धारण कर लिया। सुनिए वही अल्लामा बताते हैं—

मुशरिकों ने (बहु-देववादी) अरब वालों में माँग निकालते थे। आँ हज़रत सलअम चूँकि कुफ़्फ़ार के मुक़ाबिला में अहले किताब की मुवाफ़िक़त पसन्द करते थे इब्तदाय में आप भी अहले किताब की तरह बाल छोटे हुए रखते थे। फिर माँग निकालने लगे। यह समायल तरमज़ी की रवायत (कथा) है। मालूम होता है कि जब मुशरिकीन का वजूद न रहा तो उनकी मुशाबहत (सदृशता) का एहतमाल (भय, सन्देह) भी जाता रहा। इसलिए अख़ीर-अख़ीर ज़माना में माँग निकालने लगे। —वही, पृ० १९८।

कहा जा सकता है कि जब स्वयं मुहम्मद साहब ने किताबी एका को छोड़कर अरब एका को महत्व दिया अर्थात् 'इत्तहाद अरब' को ठीक ठहराया तब अरब और रसूल के बच्चे अरबेतर को तुच्छ क्यों न समझें और क्यों न खुलकर उन का जौहर दिखाएँ? ठीक है, पर अरब भी तो कुछ मसीही और कुछ मूसाई हैं, सभी

तो मुहम्मदी नहीं हो गए ! फिर उनकी उपेक्षा क्यों होगी ! मुसल्मानी खून उनका खून क्यों करेगा ! मुहम्मद साहब ने तो सदा दोनों के साथ सद्व्यवहार किया फिर यह आज अत्याचार क्यों !

यहूदी ही नहीं ईसाई के प्रति भी मुसलमान का भाव ठीक नहीं। विश्वास न हो तो दिल्ली के प्रसिद्ध सूफ़ी ख्वाजा हसन निज़ामी के इस कथन पर ध्यान दीजिए और देखिए कि हवा का रुख किधर है। कहते हैं—

मैंने नाम पूछा। बोला रज़क़ अल्लाह। मैंने कहा मुसलमान हो। कहा अलहम्दुलिल्लाह (अल्लाह की प्रशस्ति)। बहुत देर तक तुर्की पार्लमेंट पर गुफ़्तगू होती रही। यह पहला मुसलमान अरब था जिसने पार्लमेंट की मदह (प्रशंसा) सना (स्तवन) में आसमान ज़मीन के कुलाबे मिला दिए।

कपड़े अच्छे-अच्छे लाया था। सेठ साहब ने कुछ थान पसन्द किए। मगर ख़रीदना दूकान पर जाकर मुल्तवी (स्थगित) रक्खा।

जब यह शख़्स चला गया मालिक होटल ने कहा मरदूद (परित्यक्त) ईसाई था। आपके सामने बिक्री के लिए मुसलमान बन गया। यह लोग बड़े चलते हुए होते हैं। इनका दीन ईमान पैसा है। सेठ साहब को बहुत ताज्जुब हुआ और फिर उन्होंने बाज़ार में उसके यहाँ से कपड़ा न ख़रीदा। मुसलमान दूकानों से लिया। अगरचे मुसलमानों के हाँ हमराही (सहगामी) दल्लालों के सबब मामूल से ज्यादा देना पड़ा ताहम उनको ख़ुशी थी कि मेरा पैसा मुसलमान को मिला। मैंने भी चन्द चोग़े ख़रीदे। —सफ़रनामा, वही, पृ० १४८।

पैसे की इस महिमा को सामने रखते हुए टुक इस पर भी तो ध्यान दीजिए। यह भी किसी ख्वाजा का ही मत है। कुछ समझ-बूझकर लिखते हैं—

यहाँ (शाम) के यहूद व ईसाई उमूमन् अरब हैं और मुझको यह देखकर ताज्जुब और तास्सुफ़ (खेद) होता है कि ज़रपरस्ती (स्वर्ण-पूजा) और हवाये नफ़सानी (वासना की लिप्सा) ने उलुलअज़्म (धीर साहसी) पैग़म्बरों की औलाद को भी इस दरजे तक पहुँचा

दिया। या क्रम अज़ कम जो मंसूब (वंशज) बा आल इसराईल हैं और कभी खुदा की मुनतखिब (चुनी) कौम और नस्ल थे फ़वाहसात (अश्लीलताओं) पर आमादा कर दिया है। मगर क्या वह पैगम्बरों की औलाद है ? मुझे इसमे बहुत शुबहा है क्योंकि नस्लें मख़लूत (संकर) हो गईं और बदल गई हैं।

—रोज़नामचा सियाहत, शम्सुल अनवार प्रस, मेरठ; सन् १९१२ ई०, पृ० ३४४-४५।

चाहते तो हम भी यही हैं कि ख्वाजा गुलामुसकलैन साहब की बात सच निकले पर करें क्या देखते हैं कि उधर कोई मुँह खोलकर दौड़ दौड़कर माँग रहा है और दुआ तक नहीं करने देता। पहिचानकर कहिए तो यह कौन है—

"हर जगह मुसलमान मुल्कों मे सायल (भिखमंगे) कसरत से हैं, लेकिन इस क़दर पीछे पडनेवाले लोग कहीं नहीं देखे गए। औरतें अपने जद (दादा रसूल) की कसम खाती हैं। कहती हैं कि तुम हमारे दादा की जियारात को आए, इतना खर्च किया, हमको भी दो। दो मर्द, २-३ दिन के फाके और २-३ भूके मुताल्लकीन (आश्रित) को बताकर कसमे खाती हैं; क़समे खाने का मर्ज़ अरब व अजम में बेहद है। नीज़ ऐन इबादत के वक्त उनकी जुस्तजू (खोज) उनको अपने शिकार तक पहुँचा देती है। —वही, पृ० ४८।

यदि यह भी अरब नहीं, पैगम्बरी नहीं तो है कौन ? कौन अपने 'दादा' के नाम पर यह अत्याचार कर रहा है कि 'इबादत' तक नहीं करने देता ? किसी और में इतना साहस कहाँ ? भीख माँगने में भी तो वनही काम करता है। देखिए न—

भीख माँगने पर इसरार (हठ) करने में अव्वल नम्बर अरबों का है। गोया अक्सर अरब इसलिए पैदा हुए हैं। इराक़ अरब व सामरा व युरुशोलम व शाम दोनों जगह यही कैफ़ियत देखी। दूसरे दर्जे पर ईरानी हैं, मगर वह माँगने मे शिद्दत (कड़ाई) और हुकूमत नहीं करते। उसमानी तुर्कों में फ़क़ीर बहुत कम देखे गए और हैं तो पीछा नहीं करते। हिन्दुस्तान के मुसलमान गदागिरी (फकीरी) में मुमताज (प्रसिद्ध),

हैं, मगर अपनी तादाद के लिहाज से न कि सख्ती लहजा (कड़े स्वर) की वजह से। अगरचे हिन्दुस्तान के बाज लोग भी सख्त बेहयाई से माँगते हैं।
—वही, पृ० ३५७।

सच है, भीख माँगने में भी जातीयता प्रकट हो जाती है। बेचारा हिन्दुस्तानी मुसल्मान किस बूते पर बल दिखाए और किस आधार पर भीख माँगने में भी शिद्दत और हुकूमत करे! नहीं, यह तो अरब और विशेषतः उनमें भी रसूल-सन्तान ही को बदा है कि धौंस के साथ भीख माँगें और दीन यानियों को माव-भजन भी न करने दें। किसी रसूल सन्तान को अपने 'दादा' का कितना अभिमान है और उसका उसकी 'उम्मत' पर क्या अधिकार है इसे स्वर्गीय सर सैयद अहमद खाँ बहादुर के मुँह से सुनें और देखें कि इसलाम में कहीं खून का विचार है या नहीं। आप अपने मित्र को बड़े तपाक से लिखते हैं—

मैं कामिल यक़ीन करता हूँ और पूरे ईमान से कहता हूँ कि तुमने ग़लती की। क़यामत में ख़ुदा के सामने, रसूल के सामने कहूँगा कि ऐ मेरे दादा रसूले ख़ुदा! मैंने बग़ैर किसी ग़रज दीनी व दुनियवी के तेरी उम्मत की भलाई की कोशिश में कोई दरजा बाक़ी नहीं रक्खा था। जिन लोगों ने उसको बरबाद करना चाहा, मिनजुमला उनके एक यह नव्वाब इन्तसार जंग हैं। आप कहिएगा कि मैंने निहायत नेकनियती से कहा था। ख़ुदा यक़ीनी आपको मुआफ़ करेगा। गो मेरी और मेरे दादा को तशफ्फी (तुष्टि) न होगी। बिल्लाह (अल्लाह की कसम) न होगी। बिल्लाह न होगी। सुम्मा (फिर) बिल्लाह न होगी।
—ख़ुतूते सर सैयद, निज़ामी प्रेस, बदायूँ १९२४ ई०, पृ० १३६।

तो फिर किसी मुसल्मान को केवल अल्लाह से सन्तोष नहीं हो सकता। उसे तो 'रसूल' और साथ ही उनकी 'सन्तान' का भी ध्यान रखना ही होगा। उसकी 'तशफ्फी' के बिना किसी का काम कैसे चल सकता है! फिर भला चाहे वह भीख माँगे चाहे कुछ और भी करे पर उसकी 'तशफ्फी' और उसकी प्रसन्नता का ध्यान तो प्रत्येक दशा में रखना ही होगा। 'आखिरी कलाम' में मलिक मुहम्मद ने खूब लिखा है और स्पष्ट दिखा दिया है कि क़यामत के दिन क्या होगा और बीबी

'फातिमा' की आह कितनी प्रखर होगी। यहाँ तक कि स्वयं अल्लाह कहते हैं—

पुनि रसूल कहँ आयसु होई।
'फातिम' पहँ समुझावहु सोई॥
मारै आहि अर्श जरि जाई।
तेहि पाछे आपुहि पछिताई॥
जौ नहिं बात क करै बिपादू।
जानौ मोहि दीन्ह परसादू॥
जौ बीबी छाँडहिं यह दोषू।
तौ मैं करौं उमत कै मोखू॥
नाहिं त घालि नरक महँ जारौं।
लौटि जियाइ मुए पर मारौं॥
अगिन-खम्भ देखहु जस आगे।
हिरकत छार होइ तेहि लागे॥
चहुँ दिसि फेरि सरग लै लावौं।
मुँगरन्ह मारौं, लोह चढ़ावौं॥
तेहि पाछे धरि मारौं, घालि नरक के काँठ।
बीबी कहँ समुझावहु, जोरे उमत कै गाँठ॥४०॥

—जायसी ग्रन्थावली, द्वि० सं०, ना० प्र० सभा, काशी।

तात्पर्य यह कि 'रसूल' के साथ 'रसूल की सन्तान' को भी मानना ही होगा। इसके बिना उद्धार कहाँ! किन्तु उधर से कोई और ही शब्द सुनाई दे रहा है। कहीं से कोई पुकार कर कहता है—

दर हकीकत जो चीज हमारे पेश नजर (दृष्टिपथ में) है वह मुसलमानों की हुकूमत नहीं बल्कि 'इसलामी हुकूमत' है। उसी इसलाम की जो मजमूआ है दियानत (सचाई) अखलाक़ और मदनीयते फ़ाजिला (पूर्ण नागरिकता) के आलमगीर (विश्वव्यापी) उसूलों का। यह इसलाम हमारी या किसी के बापदादा की मीरास (दाय) नहीं है। इसका किसी से कोई खास रिश्ता नहीं। जो इन उसूलों पर ईमान लाए और

इन पर अमल करे वही इसलाम का अलमबरदार (झंडा उठाने वाला) है। वह अगर नस्ल के एतबार से चमार या भंगी भी हो तो मुहम्मद रसूल अल्लाह की मसनदे (गद्दी) खिलाफ़त पर बैठ सकता है। वह अगर नकटा हबशी .गुलाम भी हो तो अरब व अजम के शुरफ़ाय और सादात का इमाम बन सकता है। साढ़े तेरह सौ बरस से जिनके खानदान में इसलाम चला आ रहा है वह अगर आज इन उसूलों से मुनहरिफ़ (विपरीत) हो जाएँ तो इसलाम में उनकी कोई हैसियत बाक़ी नहीं रहती। और कल तक जो शख्स हिन्दू या ईसाई या पारसी था शर्क और बुतपरस्ती शराब और सूद और क़िमारबाजी (द्यूतक्रीड़ा) में मुबतला था, वही अगर आज इसलाम की फितरी (प्रकृत) सदाक़तों (सत्यों) को मानकर अमलन् उनका पाबन्द हो जाए तो उसके लिए इसलाम में इज्जत और बुजुर्गी के ऊँचे से ऊँचे मरातिब (सोपान) तक पहुँचने का रास्ता खुला हुआ है।

—मुसलमान और मौजूदा सय्यासी कशमकश, हिस्सा सोम, दफ्तर रिसाला तरजमानुलकुरान, दारुल इसलाम, पठानकोट, पंजाब, सन् १९४८ ई०, पृ० ११-१२।

मौलाना सैयद अबुल आला मौदूदी ने कृपा कर किताबी इसलाम के विषय में जो कुछ कहा है उसकी सत्यता में सन्देह नहीं, पर इतिहास का इसलाम तो सदा से ही कुछ और ही रहा है। 'चमार' और 'भंगी' तो दूर रहे यहाँ का आज तक कोई शेख, सैयद, मुगल और पठान तक भी तो 'खलीफा' न बन सका और यदि कहीं का कोई अरबेतर बना भी तो वही उसमानी तुर्क जिसके विरोध में अरब सदा लीन रहे और अन्त में उसके जिहाद को मिट्टी में मिलाकर स्वयं किसी 'शरीफ' को खलीफा बनाने में लीन हुए। माना कि हमारे देश का 'दरजी' भी 'खलीफा' बन गया पर उसके नाम का खुतबा किस काबा में पढ़ा गया ? नहीं, हमें कदापि भूलना न होगा कि हिन्दुस्तान में इसलाम कभी किसी 'भंगी या चमार' को 'मुसलमान' न बना सका। अधिक से अधिक उसने यही किया कि उसे भी अपने भीतर गिन लिया और मुसलमानों को फैलने और फूलने फलने के लिए बढ़िया खेत बना

दिया। याद रहे इसलाम के भीतर 'अशराफ' ही मुसलमान हैं। आप चाहें तो 'अजलाफ' और 'अरजाल' को भी मुसलमानों में गिन लें पर उनकी गणना ठेठ मुसलमानों में कभी नहीं हुई है। विश्वास न हो तो स्वर्गीय सर सैयद अहमद खाँ बहादुर से पूछ देखें। उनकी घोषणा है कि 'मुसल्मान इस देश के रहनेवाले नहीं हैं।' ये ठहरे ठेठ यहाँ के निवासी। फिर संगति कैसे बैठ सकती है? नहीं यह अनहोनी कभी नहीं होने की। 'मुसल्मान' केवल 'मुसलिम' नहीं, वह और भी तो कुछ है। फिर इसलाम के नाते सभी धान साढ़ेसोलह पसेरी कैसे हो सकते हैं?

अजी छोड़िए हिन्दुस्तान को। इस विलक्षण देश से पार पाना सरल नहीं। पर देखिए तो इराक में क्या हो रहा है और कौन किस वेष में सामने आ रहा है। देखिए—

अगर सैयद हों तो तुर्की टोपी पर सब्ज पट्टी बाँधते हैं जैसा कि नजफ व करबला वगैरह के खुद्दाम (सेवक) के सर का लिबास होता है। अगर सैयद न हों तो सुफेद काम की हुई पट्टी बाँधते हैं।

—इराक व ईरान, शम्सुलअसलाम प्रेस, छत्ताबाजार बेगन पल्ली; सन् १९३१ ई०, पृ० १२९।

अच्छा तो नवाब मीर असद अली खाँ बहादुर ने अपने 'सफरनामा' में यह भी दिखा दिया कि वेष में भी सैयदी शान अलग दिखाई देती है और सदा 'सब्ज' नजर आती है। जो हो, सैयद और असैयद की चिन्ता में हम अधिक समय नहीं गँवा सकते। हमें तो इब्राहीम की सन्तानों से बस यही कहना है कि—

यहूद की कौम में जहाँ और स ख्त ऐब हैं वहाँ अपना कौमियत और सरवत (वैभव) का कायम रखना और एक दूसरे की इमदाद करना उम्दा सिफात (गुण) हैं। अफसोस है कि कानून अव्वल उनमें नहीं। यानी गैर यहूदी का लूटना, खाना और उस पर गलबा (आतंक) जिस तरह हो हासिल करना जायज समझते हैं। मुसलमानों म भी बहुत लोग (ख्वाह शीया हों या सुन्नी हो, गाजी हों या वहाबिया हों) इस तरीके पर अमल करते हैं। चूँकि यह तरीका तमद्दुन और अदालत (न्याय) के खिलाफ है चन्दरोजा तरक्की के बाद परेशानी, जुअफ (ग्लानि) बद-

न्दलाकी (दुराचारिता) पैदा हो जाती है। तर क्की का राज़ (रहस्य) इस आयत में मौजूद है—एन्नल् होनल अक्रबो लितक़्वा—कि अम्न सुल्ह मुदा मुआशरत (समाजनीति) में मुंसिफ़ाना बरताव से मालूम होता है।

—रोजनामचा सियाहत, वही, पृ० २७८।

बस मेल-जोल और न्याय ने ही नजार की पीध चढ़ती है हूरहार या उन्नहार से नहीं। पर मैंपदी न्न क्या इसे सह सकता है ! नहीं, कारण कि कोई अरबों की और ही क्या सुनाता है। सुनिए तो सही कैसी खरी बात है। कहते हैं—

बेशक हुकूमत में ग़ैर अरबों को ख़्वाह वह मुसलमान ही होते शरीक न किया जाता। और अरबों के हुक्मरां तबके (शासकवर्ग) ग़ैर अरबी मुसलमानों को एक हद तक नफ़रत (घृणा) की निगाह से भी देखते और अगर मौक़ा मिलता तो उन्हें ज़लील भी करते। इराक़ के मशहूर वाली हज्जाज (हज्जाज के अधिकारी) का वाक़्या है कि उसे ख़बर मिली कि एक ग़ैर अरब मुसलमान ने एक अरब औरत से शादी कर ली है। वह पकड़ मँगाया गया। उसकी दाढ़ी मूँछ मूँडकर गदहे पर सवार किया और उसे सारे शहर में घुमाया और एलान (घोषित) किया कि यह सज़ा है जो ग़ैर अरब हो कर अरबों की बराबरी करे। बाज़ अरब वाली (अधिकारी) तो यहाँ तक करते थे कि अगर ग़ैर अरब मुसलमान हो जाते तो उनको जज़िया देने पर मजबूर किया जाता।

—मौलाना उबैद अल्लाह सिन्धी, सिन्धसागर अकाडमी, लाहौर, सन् १९४३ ई०, पृ० २१३।

अच्छा ! यह तो हुई विदेश की बात। किन्तु इस देश के साथ मुसल्मानों का जो व्यवहार रहा है उसकी खोज में इस्लाम के परम प्रतिष्ठित शोधक अल्लामा सैयद सुलैमान नदवी साहब लिखते हैं।

इससे पहले कि हम आगे बढ़ें एक नुक्ता की तरफ़ इशारा करना ज़रूरी है। चूँकि हिन्दुस्तान में जो तुर्क व मुग़ल शाहेद (विजयी) आए वह मुसलमान थे इस लिये उनकी तमाम कारगुज़ारियों का ज़िम्मादार इस्लाम समझा जाता है। हालाँकि इस हक़ीक़त से हम सब को

वाक़िफ़ होना चाहिए था कि तुर्क फ़ातेह जो हिन्दुस्तान आए खास खास अफ़सरों या ओहदेदारों को छोड़कर क़ौम की मजमूई (सामूहिक) हैसियत से वह इसलाम के नुमाइन्दे (प्रतिनिधि) न थे और न उनके उसूले सल्तनत (राज्य-विधान) को इसलाम की तर्ज़ हुकूमत (शासन-प्रणाली) और उसूल फ़रमाँरवाई (शासन-व्यवस्था) से कोई मुनासिबत थी। उनके तुर्क अफ़सर ज्यादा तर नवमुसलिम गुलाम थे जिनको इसलाम की सुलह व जंग के क़वनीन (विधानों) से शायद वाक़फ़ियत भी न थी।

—अरब व हिन्द के ताल्लुक़ात; मजहबी, पृ० १८७, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, १९२९ ई०।

तुर्कों की नीति को भलीभांति जानने के लिये यह आवश्यक है कि हम पहले अरब की ठेठ मुसलिम नीति को जान लें, सो प्रसंग में भी वही सैयद साहब कहते हैं—

अरबों ने खुलफाय राशिदीन (सत्यनिष्ठ खलीफ़ों); और सहाबा कुरीम (परम कृपालु साथियों) जमाना में दौरान जंग के इत्तफ़ाक़ी वाकआत (संयोगी घटनाओं) को छोड़कर जिन क़ौमों से मुआहदा (समझौता) किया या सुलह की इबादतगाहों (उपासनागृहों) को ठेस भी लगने न दी। ईरान के आतिशकदे (अग्निमन्दिर) वैसे ही रोशन रहे। फ़िलस्तीन व शाम और मिस्र व ईराक़ के गिरजे जो बुतों और मुजसिमों (मूर्तियों) से पटे पड़े थे वैसे ही नाक़ूसों (शंखों) की आवाज़ों से गूँजते रहे, हालाँ कि यह नव मुसलिम तुर्क फातेह उनसे ज्यादा दीन व मजहब के पुरजोश (ओजभरे) गाजी और शरीअत (विधि) के सच्चे पैरोकार न थे और न हो सकते थे। —वही, पृ० १९१-२।

सैयद साहब का कहना कितना सच है कि इसे कोई भी जानकर जाँच सकता है और यह भी तुरत समझ सकता है कि क्यों इस देश में 'तुरक' घृणा के साथ देखा जाता है कुछ 'मुसल्मान' नहीं। सच तो यह है कि हिन्दू और तुरक का विरोध इसलाम से बहुत पुराना है और तुरुष्क शासन की सुधि दिलाता है। यहाँ

के इतिहास में सदा तुर्कों का ही बोल बाला रहा है, अरबों का नहीं। सिन्ध और मुल्तान में जो अरब शासन स्थापित हो गया था उसका विनाश भी तुर्कों ने ही किया। और सच तो यह है कि खैबर से जो मुसल्मान आया पहले मुसलमान को साफ किया और फिर हिंदू पर हाथ फेरा। शिहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी से लेकर अहमदशाह दुर्रानी तक सभी तो इसी घाट उतरते हैं और इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं करते कि किसी लोभ के लिये अल्लाह के बन्दों का क्यों खून बहायें। हिन्दी मुसलमानों पर इन विलायती मुसल्मानों का शासन बराबर एक रूप चलता रहा और इतिहास की दृष्टि से परिस्थिति में कोई परिवर्तन न हुआ। भारत की परम्परा के आधार पर इतना कहा जा सकता है कि मगध के शेरशाह ने परदेशी मुगलों (तुर्कों) को देश से खदेड़ कर विक्रमादित्य का काम किया और देश को एक बार फिर पतितः पनपने का अवसर दिया। नहीं तो भारत के मुसल्मानों का इतिहास वस्तुतः मुसल्मि शासन भी पराधीनता का ही इतिहास है। मुगल साम्राज्य के पराभव काल में सैयद बन्धुओं का उदय हिन्दुस्थानी दल का उदय है तो, पर कितने दिनों का और कितना फुसफुसा? उसका भी विनाश उसी खैबरी हाथ से हुआ जो उस समय विलायती दल का द्योतक अथवा तूरानी दल का नाथ था। सारांश यह कि खैबर की घाटी से जो उतरा यहाँ के लोगों को तलवार के घाट उतारा और अपने आप को कहीं न कहीं का शासक बना लिया। हिन्दियों में जिसका सर उठा ठोक कर दुरुस्त कर दिया गया। यहाँ तक कि मलिक काफूर जैसा विजयी सेनापति उनका कुछ न कर सका और अन्त में उसी मिट्टी का हो रहा जिसको रौंद कर इतना बढ़ा था। हिन्दू से मुसल्मान बन कर भी वह खैबर का कुछ कर न सका। हाँ, अलाउद्दीन खिलजी ने इतना अवश्य किया कि १२००० नव मुसलिम मुगलों का काम तमाम कर दिया। इतिहास इस बात का साक्षी है कि राज्य के लिये कितने मुसल्मान मुसल्मानों के हाथ शहीद हुए और इसलाम को खूनी बनाते रहे। मुसलिम शासन में हिन्दी मुसल्मान को क्या मिला, इसका लेखा कौन ले! आज तो मुसल्मान का अर्थ ही कुछ और हो रहा है।

हाँ, तो राजनीति के कूट मार्ग की मारकाट से अलग रह कुछ साहित्य के सरस मार्ग पर आना चाहिए और देखना यह चाहिए कि हृदय के पुजारियों ने

यहाँ किस हृदय का परिचय दिया है और अपने मजहबी भाइयों के साथ कैसा व्यवहार किया है। सुनिए कोई पुकार कर कहता है—

गालिब के खयालात (विचारों) से यह गलतफहमी (भ्रान्ति) नहीं होनी चाहिए कि 'गालिब' की जमाअत हिन्दुओं की हिन्दू होने की वजह से तहकीर (भर्त्सना) करती थी वल्कि इस रवय्ये (व्यवहार) की पुश्त पर हिन्दी और इरानी 'निज़ा' (विवाद) मुखासमत (द्रोह) और रक़ावत (वैर) कारफ़रमा (कार्यप्रेरक) थी, और इस मामले में ईरानी नजाद (वंश) हज़रात हिन्दुओं और हिन्दुस्तानी मुसलमानों को एक ही निगाह से देखते थे।

—ओरियंटल कालेज मैगजीन, लाहौर, मई सन १९३१ ई०, पृ० ३९।

सैयद मुहम्मद अब्दुल अल्लाह साहब ने साहित्य के क्षेत्र में जिसे 'हिन्दी और ईरानी निज़ा' कहा है वही राजनीति के क्षेत्र में विलायती और मुल्की अथवा तूरानी और हिन्दुस्तानी दल के रूप में ख्यात है और गालिब के समय में भी उसके विलायती अग का संचालन सैयद अहमद खाँ बहादुर ही कर रहे हैं। जब कभी उनके श्रीमुख से निकलता है कि 'मुसलमान इस मुल्क'के रहनेवाले नहीं हैं' तब उनका मतलब इन्हीं विलायती मुसलमानों से होता है। परन्तु यह स्वदेशी और परदेशी का झगड़ा 'गालिब' और 'सर सैयद' से भी कहीं पुराना है। साहित्य के क्षेत्र में तो—

अमीर खुसरो के ज़माने से हमें इस रक़ावत का पता चलता है। लेकिन मुग़लों के ज़माने में जब ईरान के शुअरा (कवि) और फ़ुज़ला (कोविद) बकसरत हिन्दुस्तान में वारिद (प्रविष्ट) होते हैं तो यह जज़्बात (आवेश) तल्ख़तर (तीव्र) और कटु शकल एख़तयार कर लेते हैं। उर्फ़ी और फ़ैजी की मुखासमत (ईर्ष्या), सादी और फ़ैजी के मुताल्लिक (सम्बन्ध में) 'आसमानी दाद' का लतीफ़ा और इस क़िस्म के दूसरे वाक़आत (घटनायें) इस निज़ा के मुख़तलिफ़ (भिन्न-भिन्न) सुबूत हैं।

वही, पृ० ३९।

तात्पर्य यह कि जिस नीति-निपुण अकबर के राज्य में एकता की धूम मची

भी उसी के उदार शासन में हिन्दी-ईरानी विवाद भी बढ़ रहा था और फारसी के स्वागत और व्यापक प्रचार के कारण फारसी दिमाग भी आसमान पर चढ़ रहा था। इसका प्रधान कारण ईरानी कवियों की बाढ़ नहीं तो और क्या है? क्या टोडरमल ने इस रहस्य को समझा था और अकबर की क्रूर दृष्टि ने इसे सराहा था।

जहाँगीर के अहद के मुल्ला 'शैदा' हिन्दी एक बुजुर्ग गुजरे हैं। उन्हें तज़किरानिगारों (वृत्तलेखकों) ने निहायत ही मकरूह (घृणित) और नाज़ेबा (अश्लील) अलक़ाब (उपाधियों) के साथ याद किया है। वाला दाग़िस्तानी फ़रमाते हैं—

• कि यह हिन्दुस्तान में पैदा हुआ था और पस्त फ़ितरत (पतित-प्रकृति) था।

लेकिन हक़ीक़त यह है यह इस ज़माने में ईरानियों के तअल्ली (गर्व) के खिलाफ़ सदाय एहतिजाज (विरुद्ध घोषणा) करते हैं और उन ईरान नज़ाद मुतकब्बिरों (महाजनों) मज़हका उड़ाते हैं जिससे मुतासिर (प्रभावित) हो कर यह लोग उन्हें बदनाम करते हैं।—वही पृ० ३९।

सच्ची बात तो एक ही है। और वह यह है कि यह हिन्दी हैं ईरानी नहीं। यदि यह भी ईरानी होते तो इनकी वह दुर्गति कदापि न होती जिसका 'तज़किरों' में उल्लेख होता है। हिन्दी चाहे कितना ही इन परदेसियों का सत्कार करें पर ये कभी सीधी बात करने वाले नहीं। देखिए—

✓ शेख अली हज़ीं हिन्दुस्तान में वारिद हुए। लोग बहुत इज़्ज़त से पेश आए। लेकिन उन्होंने भी हिन्दुस्तानियों की तहक़ीर व तनक़ीस (तुच्छता और हीनता) में कसर उठा न रक्खी। जिसका नतीजा यह हुआ कि हिन्दुस्तानियों ने भी इन पर एतराज़ात (आक्षेप) किए।—वही, पृ० ४०।

सब कुछ तो हुआ पर इस दुर्व्यवहार का शुभ परिणाम क्या हुआ? क्या कभी हिन्दियों की आँख खुली? नहीं। सय्यद मुहम्मद अब्दुल अल्लाह साहब तो इससे यह निष्कर्ष निकालने और हिन्दुओं की वकालत के लिये इसे ही पर्याप्त समझते हैं कि—

इस निज़ा की तफ़्सील (तालिका) बयान करने से हम यह साबित करना चाहते हैं कि शालिम और उनके हम ख्याल इस बारे में किसी

मजहबी इखतलाफ़ की विना (नीव) पर नहीं बल्कि मुल्की और वतनी असबियत (देशी कारणों) की विना पर हिन्दुओं को वह दरजा देने से इनकार करते थे जिसके वह बहमा वजूह (सब कारणों से) मुस्तहक़ (अधिकारी) थे। —वही, पृ० ४०।

बात है तो यही कि ईरानी 'मजहब' नहीं देखता 'मुल्क' और 'वतन' देखता है, किन्तु हिन्दी क्या देखता है, कुछ इसे भी तो बता देना चाहिए। सुनिए मौलाना हाली सा उदार हिंदी कहता है—

दूसरी शर्त यह थी कि डिक्शनरी लिखने वाला शरीफ मुसलमान हो क्योंकि खुद देहली में भी फसीह (बढ़िया) उर्दू सिर्फ मुसलमानों ही की जबान समझी जाती है। हिन्दुओं की सोशल हालत (सामाजिक स्थिति) उर्दू ए मुअल्ला (श्रेष्ठ उर्दू) को उनकी मादरी जबान (मातृ-भाषा) नहीं होने देती। कमाल खुशी की बात है कि हमारी मुल्की बान की पहली डिकशनरी जिसपर तमाम आइन्दा डिकशनरियों की नीव रक्खी जायेगी एक ऐसे शख्स ने लिक्खी है जिसमें दोनों जरूरी शर्तें हैं।

—फरहगे आसफिया, जिल्द चहालेम, तकरीज, पृ० ८००, सन् १९०८ ई०।

कहा जा सकता और सच कहा जा सकता है कि 'उर्दू' से केवल हिंदू ही नहीं अपितु हिंदी मुसलमान भी निकाले गए हैं क्योंकि मौलाना हाली ने 'शरीफ' शब्द का प्रयोग कुछ जान बूझ कर ही किया है। और तो और स्वयं फरहग के विधाता मौलाना सैयद अहमद देहल्वी भी लिख कर घोषणा करते हैं—

हम अपनी जबान को मरहठी वानों, लावनी वाजों की जबान, धोनिया के खड, जाहिल (मूर्ख) ख्यालबन्दों के ख्याल, टेसू के राग याने बे सर व पा अल्फाज का मजमूआ (समूह) बनाना कभी नहीं चाहते और न उस आजादाना (स्वच्छन्द) उर्दू को ही पसन्द करते हैं जो हिन्दुस्तान के ईसाइयों, नव मुसलिम भाइयों, ताजा विलायत साहब लोगों, खानसामाओं, खिदमतगारों, पूरब के मनाहियों (मनुष्यों), कैम्प छावनियों और छावनियों के सत वेझड़े बाशिन्दों ने एखतयार (स्वीकार)

कर रखी है। हमारे ज़रीफुलतबा (विनोदप्रिय) दोस्तों ने मज़ाक़ से इसका नाम 'पुड्‌दू' रख दिया है।

—फ़रहंग आसफ़िया, सबब तालीफ़, जिल्द अव्वल, पृ० २३।

यदि 'पुड्‌दू' के अधिकारियों और नव मुसलिम भाइयों को और भी निकट से इसे परखना हो तो इतना और भी जान लें—

धुनिए, जुलाहे, तेली, तँबोली, क़सबाती, देहाती, जितने खेत के लिखे पढ़े थे सब उठ ले ले के लुग़ात निगार (अभिधानकर्ता), फ़रहंग नवीस (कोशकार) बन गए गो देहली या लखनऊ को आँख खोल कर न देखा हो मगर हमारे पहले एडीशन ने लाला भाइयों से लेकर दीगर (दूसरे) क़लम कसाइयों तक को मुवल्लिफ़ (संकलनकर्त्ता), मुसन्निफ़ (ग्रन्थकार) बना दिया। —वही, पृ० २८।

'लाला भाइयों से लेकर दीगर क़लम कसाइयों तक' पर उर्दू का जो धावा हुआ है उसने स्पष्ट कर दिया है कि उर्दू में भी हिन्दी का निर्वाह नहीं। यहाँ भी उसकी वही भर्त्सना है जो फारसी में। हो भी क्यों नहीं, आखिर उर्दू भी तो उन्हीं की जबान है जिनकी कभी फारसी थी। शम्सुल उल्मा मौलवी मुहम्मद हुसैन 'आज़ाद' ने ठीक ही कहा है—

उर्दू के मालिक उन लोगों के औलाद (सन्तान) थे जो असल में फ़ारसी ज़बान रखते थे।

—नज्म आज़ाद, नवल किशोर गैस प्रिंटिंग वर्क्स, लाहौर, सन् १९१० ई०, पृ० १४।

अतः हम देखते हैं कि उर्दू में भी वही ईरानी और हिंदी झगड़ा चल रहा है जो कभी फारसी में चलता था। यहाँ भी 'लाला भाई' और 'नव मुसलिम भाई' एक ही खेत में जोते जा रहे हैं। हाँ, अब इतना अन्तर अवश्य हो गया है कि 'ईरान' सिमट कर 'उर्दू' हो गया है और फलतः वही उर्दू भाषा का धनी माना जाता है। ईरानी हिंदियों का उपहास इसीलिये तो करते थे कि वे चले थे फारसी झाड़ने पर कह गए कुछ हिंदी बात ? यही हिंदीपन तो उनकी भर्त्सना का कारण

हुआ और इसी हिन्दीपन को छिपाने के लिये तो ठेठ ईरानी का स्वाँग रचा गया ? किन्तु नहीं, कसौटी पर चढ़ते ही उनकी कलई खुल गई और उनका असली रूप चट निखर आया। तपस्वी सँघ में पकड़ा गया तो क्या इसमें ईरानियों का तनिक भी दोष है ? कदापि नहीं, ऐसे वानरी जीवों का सर्वत्र यही सत्कार होता है और यही नाच सर्वत्र उन्हें नाचना पड़ता है। कहते हैं—

साहबे क़ामूस (अरबी का प्रसिद्ध कोश) जात का अजमी (ईरानी) था। इसको बचपन से जबान अरबी की तकमील (पूर्णता) का शौक़ हुआ। जहाँ तक अजम में मुमकिन था सिख पढ लिया। नज्द और तहामा और यमन, और शाम और हजारा और नदावा में बरसों जबान के पीछे खाक छानता फिरा। आख़िरकार सारी उम्र की तफ़तीश (पड़ताल) और तलाश (खोज) के बाद क़ामूस बनाई तो कैसी बनाई कि सारी दुनिया उसकी सनद (प्रमाण) पकड़ती है। जुबानदारी का परदा खुदा को फ़ाश (प्रकट,) करना था। अरब की एक बीबी से निकाह किया। रात के वक्त घर की लौंडी से कहते थे कि चिराग़ गुल (बुझा) कर दे। तोते की टें टें कहाँ जाए। 'उतिफ़ी उस्सिराज' (दीपक बुझा दे) की जगह फारसी मुहावरा के मुताबिक़ बे साख़्ता 'तुफ़ुतुली उस्सिराजा' बोल उठे। बीबी ताड गई। सुबह उठ दारुल कज़ा (न्यायगृह) में जा नालिश की।

—हयातुल नज़ीर, शम्सी प्रेस देहली, सन् १९१० ई०, पृ० ५३-४।

'नालिश' का नतीजा चाहे जो निकला हो पर बीबी ने तो मियाँ को ठुकरा ही दिया और सारे ससार को जता दिया कि प्रकृति को छोड़ अनुकृति के पीछे न मरो। प्रकृति तुम्हारा पीछा नहीं छोड़ेगी और ठीक अवसर पर तुम्हें धोखा दे खुल पड़ेगी। तो जो यही प्रकृति का नियम है और जो ईरानी हिंदी की चोरी लिख कर उसका परिहास उड़ाते हैं तो इसमें उनका दोष क्या ? यही तो वसुधा की मानव प्रकृति है। हम तो यह देखना चाहते हैं कि इन बनावटी वीरों की और भी दुर्गति हो और एक से एक बढ कर दुर्गति तब तक होती रहे जब तक इन विमूढ़ भक्कुओं की आँखें न खुले और अपनी जन्म भाषा से गहरी ममता न हो जाय और उसी पर जीने मरने की पैज न ठने।

अच्छा, यह तो मान लिया कि फारसी में हिंदियों की जो निन्दा हुई है वह अत्यंत स्वाभाविक और उचित है। उसमें हिंदू मुसलिम भेद नहीं, 'मुल्की' और 'वतनी' भेद है। पर इतने से ही हम इसे भी कैसे मान लें कि हमारी 'मुल्की' और 'वतनी' जबान भी हमारी न होकर विलायतियों की 'कैद' में रहेगी। इसकी भी सनद किसी 'उर्दू' से ली जायगी? कहने को कोई कुछ भी कहता रहे पर हमारी भाषा हमको छोड़कर किसी अन्य की हो नहीं सकती। किसी भी हिन्दी की हिन्दी भाषा में भर्त्सना हो नहीं सकती। हां, उर्दू में अवश्य होगी क्योंकि वह ईरानियों की 'कैद' में है और फारसी के सपूत ही आज उसे बरतते भी हैं। हिन्दी जन से उसका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं। यहाँ तक कि उसमें तो शरीफ 'हाली' को भी 'उर्दू' से बाहर होने के कारण स्थान नहीं। उसकी शान तो यह है—

> मालूम है हाली का है जो मौलिदोमंशा,
> उर्दू से भला वास्ता हज़रत के वतन को।
> उर्दू के धनी वह हैं जो दिल्ली के हैं रोड़े,
> पंजाब को मस उससे न पूरब न दकन को।
> बुलबुल ही को मालूम हैं अन्दाज चमन के,
> क्या आलमे गुलशन की खबर ज़ागोजगन को।

अर्थात् हाली के घरघाट का हमें पूरा पता है। भला उर्दू से इस महाशय के घर का क्या लगाव है। उर्दू के अधिकारी तो वे हैं जो दिल्ली में रसे बसे हैं। उससे न तो पंजाब का कोई लगाव है, न पूरब और दक्खिन का। उपवन की बहार को बुलबुल ही जानती है। चील कौए को बसन्त की खबर क्या!

हम 'उर्दू' की बुलबुल से तो कुछ कह नहीं सकते। वह दिल्ली के 'चमन' और 'गुलशन' में (यदि कहीं हों) खूब चहकती फिरे पर हमें रोना तो यह देख कर आता है कि ये मुए चीलकौए (ज़ागोजग़न) भी अपना विस्तृत साम्राज्य छोड़ कर—'पंजाब', 'पूरब' और 'दकन' से दूर जा कर निगोड़ी उर्दू का तराना छेड़ते और उसके सहज उपहास का कारण बनते हैं। उन्हें इतनी सुधि नहीं रहती कि उधर का फतवा कभी का निकल चुका है और अब उसमें इधर उधर करने की कुछ

गुजायश नहीं। देखिए न मीर तक़ी 'मीर' किस अन्दाज से कह जाते हैं और उर्दू की स्थिति को कितना स्पष्ट कर देते हैं। सुनिए—

दिल्ली में एक शाइर गुज़रे हैं कि उलूम रस्मी (व्यवहार कुशलता) की काबिलियत (योग्यता) से उमादाय (स्तम्भों) दरबारशाही में थे। वह मीर साहब के ज़माना में मुब्तदी (नौसिखुआ) थे। शेर का शौक बहुत था। इसलाह के लिये उर्दू की गज़ल ले गए। मीर साहब ने वतन पूछा। उन्होंने सोनपत इलाका पानीपत बतलाया। आपने फ़रमाया कि सैयद साहब, उर्दू-ए-मुअल्ला खास दिल्ली की ज़बान है। आप इसमें तकलीफ़ न कीजिए, अपनी फारसी वारसी कह लिया कीजिए।

—आबे हयात, पृ० २१७।

ध्यान देने की बात है कि जब 'फारसी वारसी' में कहनेवाले दरबारी सैयद को सोनपती होने के कारण उर्दू में स्थान नहीं मिलता तब किसी देश के ठेठ हिन्दू वा नव मुसलिम को उसमें स्थान कहाँ? कहा भी तो इसी से यही जाता है कि—

नुक्ता परदाजी से अजलाफ़ों को क्या।
शर से बज़ाज़ो नद्दाफ़ा को क्या॥

अर्थात् तुच्छ और नीच मनुष्यों को रहस्य का बोध क्या और बनिया और धुनिया का काव्य से सम्बन्ध क्या? यह कला तो बस शरीफ मुसलमानों की है।

सचमुच उर्दू के धनी मुसलमान उर्दू में 'अजलाफ़' को कुछ भी नहीं गिनते और उनके साथ वह व्यवहार भी नहीं करते जो उनके ईरानी बापदादे पारसी में हिन्दियों के साथ करते थे। फिर भी उर्दू 'मुल्की' और 'वतनी' ज़बान कही जाती है यही आश्चर्य है। इससे बढ़कर अचरज की बात भला दूसरी और कौन होगी कि अपने देश और अपनी भाषा में भी हिन्दियों का अपना हाथ नहीं रहा और यदि किसी का हाथ है तो उन विलायती लोगों का जिनका यदि अरब में जाते तो सम्भवत वह भी सत्कार नहीं होता जो 'साहबे कामूस' का हुआ था। उन्हें तो भला अपनी अनुपम रचना के प्रसाद में एक अरबी बीबी मिल भी गई थी पर इन्हें क्या मिलेगा इसे कौन कहे? हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि मौलाना 'आजाद' बिलग्रामी की अरबी रचना 'अजमी बू' के कारण किसी अरब को न पची।

बात यह थी कि किसी हिन्दी के मुँह से यदि हिन्द की बू आती तो किसी अरब को अवश्य आती, पर यह तो अजम की बू थी जो अरब को आज तक कभी भा. ही नहीं। मौलाना मुहम्मद अमीन साहब अब्बासी चिरैयाकोट ने किसी अरब को क्या समझ कर किसी हिन्दी की अरबी कविता सुनाई थी यह तो कहा नहीं जा सकता, पर इतना तो प्रकट ही है कि उनका अनुभव यह है—

मैंने अरब में एक शाइर को 'आज़ाद' बिलग्रामी के अरबी अशआर (शेर) सुनाए। उसने कहा कि अशआर तो अच्छे हैं लेकिन इनमें अजमियत (ईरानीपन) है। इसका सबब यही है कि हम उनकी मासरत (मर्यादा), और रोजमर्रा (प्रतिदिन) के ख़यालात (विचारों) से मानूस (अभिज्ञ) नहीं और हम जिन ख़यालात को नज़्म करते हैं उनसे वह मुतासिर (प्रभावित) नहीं।

—जवाहिर ख़ुसरवी, इन्स्टीट्यूट अलीगढ़ कालेज, १९१८ ई०, पृ० १४०।

यदि उक्त मौलाना इस घटना से यह निष्कर्ष निकालते कि हम जिन विचारों को पद्यबद्ध करते हैं उनसे हम प्रभावित नहीं तो कितना सटीक और सारगर्भित होता। अरब किसी हिन्दी रचना के लिये कितना लालायित रहता है और हमारे अल्लामा उससे कितना दूर भागते रहते हैं इसे अल्लामा शिबली की आप बीती से सीखें। अल्लामा किस ब्लॉक में आप ही बताते हैं—

शाम को हमेशा हम तीन चार आदमी एक कहवाख़ाना में जो ऐन लबेदरिया (ठीक समुद्रतट) है साथ बैठा करते थे और अजीब लुत्फ व मजे की सोहबत रहती थी। कभी कभी मग़रिब (सन्ध्या की नमाज़) के बाद कश्ती किराया करते और समुन्दर की सैर करते फिरते। फवाद (व्यक्ति विशेष) को गाना आता है। मजे में आकर अरबी गीत गाया करते। एक दिन मुझ से फरमायश की कि कोई 'हिन्दी' चीज़ सुनाओ। मैंने बहुतेरा कहा कि भाई ! मैं मौलवी आदमी हूँ। मुझको गाने से क्या वास्ता।" लेकिन वह कब मानते थे। आख़िर मजबूर हो कर मैंने उर्दू के दो तीन शेर आवाज़ का घटा बढ़ा कर पढ़े और कहा कि 'हिन्दी' में यों ही गाते हैं।

—सफरनामा, पृ० १२७।

बहुत अच्छा किया। आखिर कोई हिन्दुस्तानी 'मौलवी आदमी' इससे अधिक और कर ही क्या सकता है? 'हिन्दी चीज' है न! तोबा! तोबा!! किसका नाम लिया! हिंदुस्तान में हिन्दी कहाँ! सभी कुछ तो उर्दू है। भाषा के प्रसग को छोड़ यदि वेष भूषा पर ध्यान जाता है तो यहाँ भी वही लीला दिखाई देती है। अल्लामा शिब्ली का अनुभव यहाँ भी बड़े काम का सिद्ध होता है। देखिए, किस भेद भरी वाणी में कहते हैं—

मैं बड़े शौक से उनके पास गया लेकिन वह मतलकन मुतवज्जह (सर्वथा ध्यानी) न हुए। जिस शख्स के पास खड़ा हुआ उसने एक बार आँख उठा कर मेरी तरफ देखा और गरदन नीची कर ली। मुझको इस बदअखलाकी (दुर्व्यवहार) पर सख्त ताज्जुब हुआ। दिल में कहता था कि अरबों की मेहमाननेवाजी (अतिथिसेवा) की यह कुछ तारीफें सुनी थीं। उनको तो बातचीत में भी मुजायका (हस्तक्षेप) है। उनमे मदरसा हरबिया (शास्त्रशिक्षण) के चन्द तुलबा (विद्यार्थी) थे जा रुख-सत (छुट्टी) लेकर वतन (देश) म आये थे और अब कुस्तुनतुनिया जा रहे थे। वह कभी दिल बहलाने के लिये अरबी दीवान (सकलन) वगैरा पढा करते थे। मैंने ख्याल किया कि हमफनी (सहकारी) के जरियो से अतारुफ (परिचय) पैदा करूँ। चुनाचे उनके पास गया और दखल दर माकूलत (उचित ढग के आक्षेप) के तौर पर अपनी मौलवियत और इल्मियत (पडिताई) जतानी शुरू की। वह इस पर भी मुतवज्जह (ध्यानी) न हुए। मैं अपना सा मुँह लेकर चला आया। लेकिन मुझको यकीन था कि इस वाकुआ (घटना) का जरूर कोई खास मनन है। इत्तफाकन (सयोग से) एक मौका पर एक शख्स ने मेरा मजहब पूछा। मैंने कहा 'इसलाम' बोला 'ला वल्लाहे! आहाज तबूशुल मुसलिम।' याने 'हरगीज नहीं। कहीं मुसलमान भी ऐसी टोपी ओढते हैं!' बद किस्मती (दुर्भाग्य) से मेरे सिर पर ईरानी टापी थी और इस वजह से तमाम अरब मुझको मजूसी (अग्निपूजक, पारसी) समझते थे। यह मोअम्मा (रहस्य) जब हल हुआ तो मैंने उन लोगों के दिल से इस बद

गुसानी (दुष्ट भावना) को रफा कर दिया और फिर वह ऐसे शीर व शकर (दूध-चीनी) हुए कि एक दम को मुझसे जुदा होना नहीं चाहते थे।

—वही० पृ० १४।

जिस ईरानी टोपी का हिन्दुस्थान में इतना माव या इसी का अरब में कितना मोल रहा इसे तो आपने भी देख ही लिया। पर अभी यह जानना शेष रहा कि स्वयं अरबी वेष का विदेश में कितना सम्मान है। तो लीजिये उक्त अल्लामा की कृपा से सो भी यहीं प्राप्त है। आप स्वयं बताते हैं —

शेख अली जीवान और मैं दोनों अरबी लिबास में थे। अगरचे मेरे सिर पर रेशमी अम्मामा (पगड़ी) और कमर में सुनहरी पेटी थी लेकिन कफ़्तान (पहनावा) और अबा (झुल्ल) की वजह से मजमूई (मिलीजुली) सूरत से अरब मालूम होता था। पाशाये मौसूफ़ (उक्त पाशा) को उस वक्त निहायत जल्दी थी। सलाम अलेक (मुसलमानी सलाम) के साथ ही जेब में हाथ डाला और कुछ मजीदियाँ (तुर्की सिक्का) निकालीं। पहले तो मुझको सख़्त ताज्जुब (विकट आश्चर्य) हुआ। फिर ख्याल आया कि नऊज़बिल्लाह (ईश्वर बचाये) उन्होंने हमको आम अरबों की तरह गदागर (भिखारी) समझा। इस ख्याल के साथ मुझको निहायत रंज और रंज के साथ गुस्सा आया।

—वही, पृ० ५७।

हम नहीं कह सकते कि हमारे देश के होनहारों को इस 'निहायत रंज और रंज के साथ गुस्सा' से क्या हो रहा है पर हम इतना जानते अवश्य हैं कि किसी भी जीवित जाति के व्यक्ति के लिये यह कलंक की बात है, किसी अल्लामा के लिये तो और भी।

अल्लामा शिबली की विलायती वेष में विलायत में जो गति बनी वह आप के सामने है। उसमें किसी विलायती का दोष क्या ? परन्तु उसी विदेश में हमारे स्वदेशी वेष का जो सत्कार हुआ, कृपया उसे भी जान लें। हाफ़िज अब्दुलरहमान साहब अमृतसरी किस उल्लास से कहते हैं—

मैंने यह जुलूस (सलामअलेक़) देखने की गर्ज़ से एक नया सूट सिलसिलाया कुछ रुपये में बाजार से खरीदा और सर पर टसर का पट्टा बाँधा और एक हिन्दी मुसाफिर (यात्री) की हैसियत से ग्यारह बजे के करीब जामा हमीदिया (विशेष पीठ) में जा पहुँचा। उस मौक़ा पर टसर के दुपट्टा ने यह काम दिया कि शायद किसी बड़े आदमी की सिफारिश भी उससे ज्यादा काम न दे सकती। जब मैं जामा हमीदिया में इधर उधर टहल रहा था तो एक साहब मेरे पास आए और मेरे अम्मामा की बंदिश देखकर उर्दू मे फरमाने लगे—क्या आप हिन्दुस्तानी हैं ? मैंने जवाब दिया कि हाँ। फिर पूछा कि यहाँ किस गर्ज़ से आना हुआ ? मैंने कहा कि दारुल खिलाफा इसलाम की (मुसलमानी खलीफा का स्थान) सैर, और सुलतान-उल्मुअज्जम (गौरवशील सुलतान) का शौके दीदार (दर्शनाभिलाष) मुझे इस सर जमीन मे खींच लाया है। यह तक़रीर (व्याख्यान) सुनकर वह निहायत मेहरबानी से मुझे इमामे मसजिद (मसजिद के प्रधान) के पास ले गये और मेरे सफर के हालात बयान करके उनसे शनासाइ (पहिचान) कराई और सिफारिश की कि मुझे रस्मे सलामअलेक़ के देखने का मौका दिया जाय। इमाम साहब ने कहवा की तवाज़ा (आवभगत) की और अरबी ज़बान मे मेरे सफ़र के हालात दरयाफ्त करते रहे। इसके बाद मुझे गैलरी पर नमाज़ पढ़ने की इज़ाज़त दी ताकि मैं यहाँ से बखूबी सैर कर सकूँ।

—सफरनामा बलाद इसलामिया, मुफीद आम स्टीम प्रेस लाहौर, सन् १९०५ ई०, पृ० १४८।

हिन्दी ढग के इस अम्मामा का प्रभाव तो देख लिया अब 'हिन्दी' होने का फल देखिये। वही सज्जन कहते हैं—

मुहर्रिर चुंगी भी कोई भला आदमी था। उसने दौरानये परताल (जाँच के समय) में पूछा कि कहाँ से आ रहे हो। मैंने कहा हिन्दोस्तान से। यह सुनकर कहने लगा—हिन्दी ! वली अल्लाह ! (ईश्वरभक्त) ज्यादा परताल की कुछ जरूरत नहीं। इसके बाद कुलियों को हिदायत

की कि हमारा असबाब उठा लें और इजरत मुकर्रर कर दी ताकि बाद में झगड़ा न हो। —वही, पृ० १३८।

तुर्की में इस हिन्दी के साथ जो व्यवहार हुआ उसको सामने रखकर अब इस हिन्दी मुसल्मान की बातचीत पर ध्यान दीजिये। वह किसी अधिकारी से उलझ रहा है—

मैं—क्या हम में से सिर्फ ईरानी मुसल्मान था कि उसको शहर में जाने की इजाजत हुई।

रईस—नहीं आप भी मुसलमान हैं। मगर पाबन्दी कानून से लाचारी है।

मैं—आखिर ऐसा क्या कानून है जो मुसल्मानों में अलहदगी (बिलगाव) का बाइस (कारण) हो।

रईस—कानूने-बैनुल अकवाम (भिन्न भिन्न जातियों के विधान) के मुताबिक यह बात करार पा चुकी है कि तुर्की, मिस्री और ईरानी रिआय के लोग इस्तम्बोल के बन्दरगाह पर उतरें और दीगर मुमालिक (अन्य प्रदेशों) की रिआया ग़लता के बन्दरगाह पर।

—वही, पृ० १३२।

हिन्दी मुसल्मानों की धारणा है कि मुसल्मान मुसल्मान ही है फिर चाहे वह अरब हो या ईरानी, हिन्दी हो या अफगानी, पर बात ऐसी है नहीं। कहने को तो 'मुसल्मि हैं हम वतन है सारा जहाँ हमारा' बहुत बढ़िया है, किन्तु रहने-सहने, जीने-खाने और पेट भरने के लिये इसका कुछ अर्थ नहीं। तभी तो ख्वाजा गुलामुस्सक़लैन का कहना है—

बहैसियत सय्याह (यात्री के रूप में) मुझको सही वाक़आत (सच्चे वृत्त) लिखने चाहिये कि यह राय ईरान से बाहर अरब और तुर्क व मिस्र सबकी है कि 'मजूसियान हिन्द (हिन्द के अग्निपूजकों) से मुसल्मानों की मुखालिफत (विरोध) न चाहिये।

—रोजनामचा सियाहत, सम्सुल अनवार प्रेस मेरठ, सन् १९१० ई०, पृ० १३६, पाद टिप्पणी।

'ख्वाजा साहब' के 'मजूसियाने हिन्द' में भी कुछ रहस्य छिपा है। 'मजूसी' का सामान्य अर्थ 'मगस' अथवा 'पारसी' है। परन्तु यहाँ उसका संकेत है 'हिन्दू'। सो क्यों ? तो इसे भी देख लीजिये। आपका स्वतः कहना है—

यहाँ (इराक में) मुसलमानाने हिन्दोस्तान को हिन्दी या हिन्दू और जमा (बहु वचन) हुनूद और हिन्दू को हुन्दू कहते हैं और शाम में मजूस कहते हैं। —वही पृ० १२१।

'अरब' हिन्दी मुसलमानों को 'हिन्दू' भले ही कह लें पर हिन्दी मुसलमान तो अपने आप को सदा अरब ही समझते हैं और कभी देश का होकर रहना नहीं चाहते। उन्हें तो 'मेरे मौला बुला ले मदीना मुझे' का ही गीत भाता है। सुनिये न, दिल्ली के प्रसिद्ध तबलीगी नेता ख्वाजा हसन निजामी किस मुँह से क्या फरमाते हैं। आप नहीं ही भावभरी भगी में कहते हैं—

पाशा ने कहा—शीशे के गिलास भी हाजिर हैं, मगर मैं हमेशा इसी काट के बरतन में पानी पीता हूँ और अपनी गुजश्ता (बीती हुई) तेरह सौ बरस पहले की बद्दूयत (बद्दूपना) को हाथ से नहीं जाने देता। मैं अब्बासा हूँ और एक अब्बासी का फर्ज है कि वह अपने कदीमी औज़ा (पुराने ढंग) व इतवार (मर्यादा) को बाक़ी रखे। यह आलूनुखारे सफरे को दफा (नष्ट) करते हैं। अगर आप मंजूर करें तो इस प्याला में पीएँ वरना गिलास मौजूद है। मैंने कहा—जिस तरह एक अब्बासी अपने कदीमी इतवार का हामी (साथी) है एक हुसैनी हाशिमी भी उसी तरह उन मरासिम (रीतियों) पर फिदा है। ला ऐ अरब के बादशाह। मैं काट के प्याले को इन काँच के बरतनों पर तरजीह (महत्त्व) देता हूँ।

पाशा ने जब यह सुना कि मैं हुसैनी हूँ तो जोर से अपनी खरखराई हुई बूढ़ी आवाज़ को खींचा और गोश्त की चोटी रकाबी से उठाकर मुझको दी कि लो ऐ मेरे इब्न उम (चचा के बच्चे) यह खाओ। जुबेरपाशा के चेहरे पर इस वक्त बड़ी खुशी का रंग था। मैंने बोटी ले

ली और खाकर काट के प्याले का आधा पानी पी गया। बाकी पानी को जुबेरपाशा काँपते हुए हाथों से उठाकर गट गट चढ़ा गये।

अब बात बात में वह मुझको इब्न उम कहते थे यानी चाचा के बेटे और मैं उनको मलिकुल अरब (अरब के स्वामी) बादशाह अरब के खिताब से मुखातिब (सम्बोधित) करता था।

—सफरनामा, दिल्ली प्रिंटिंग वर्क्स, सन् १९११ ई०, पृ०, ५९-६१।

किन्तु, वस्तु स्थिति यह थी कि जुबेरपाशा कभी सूडान के बादशाह थे, अरब के कदापि नहीं। पर इससे होना क्या है! हमारे ख्वाजा हसन निजामी भी तो 'इब्न उम' बन गये! फिर उन्हें 'अरबेश्वर' नहीं तो और कहते क्या? परन्तु हमें जानना तो तो यह है कि क्या यही सच्चा इसलाम है कि तेरह सौ बरस बाद भी सर पर उन्हीं सवार रहे और अपना धर्म कहीं न दिखाई दे! पता नहीं, ख्वाजा हसन निजामी पहले हिन्दी हैं, अरब हैं, या मुसल्मान! कुछ भी हों पर सच्चे अरब तो आज भी उन्हें 'हिन्दु' ही कहेंगे अरब कदापि नहीं। रहे हिन्दी मुसल्मान? तो उनकी गति कौन कहे। आह! उनके भी सुनने के कान और देखने की आँख होती!

मुसलमान की ज़बान

हिन्द में मुसलमान की इल्मी-जबान अरबी, अदबी ज़बान फ़ारसी और क़ौमी जबान उर्दू है। उर्दू के बारे में अब तक आपने बहुत कुछ कहा सुना, लिखा पढ़ा या बोला बतियाया होगा और समय समय पर अपनी जीत का गहरा हाथ भी दिखाया होगा। पर सच तो कहिये क्या आपने कभी इस बात पर भी ध्यान दिया कि वस्तुत उर्दू से मुसलमानों का इतना प्रेम क्यों है और क्यों आज उर्दू वसुधा में एक अलौकिक भाषा के रूप में फैलाई जा रही है? यदि नहीं तो आज ध्यान से सुनिए जो आपको बताया जा रहा है कि वास्तव में उर्दू है क्या कि उसके बारे में इतना तूमार उठ खड़ा हुआ है और वह अपने सामने किसी भाषा को ठहरने नहीं देती। कीजियेगा क्या? उर्दू का जन्म ही ऐसी शुभ घड़ी में हुआ है, कि आप उससे अन्यथा कुछ पा भी नहीं सकते। सुनिये, इसलाम के परम प्रशंसित चारण स्वर्गीय मौलाना अलताफ़ हुसैन हाली कहते हैं।

हँसी और ठठोल की चश्मे बद्दूर (कुदृष्टि दूर हो) ऊपर ही स बुनियाद जमती चली आती थी। यहाँ तक की आलमगीर जैसे रूखे और मुतसरिअ (कर्मकाडी) बादशाह के दरबार में भी नियामत ख़ाँ

जैसा ज़रीफ़ (हसोड़) और बज़्लः सज (विदूषक) मौजूद था। मगर मुहम्मद शाह के अहद में ज़राफ़त यहाँ तक बढ़ी कि मुंजरें (इति) बःतमसखुर (ठठोल) व इस्तहज़ा (भड़ैती) हो गई। बादशाह मुल्क का इन्तज़ाम औरों पर छोड़ कर आप हमःतन (सर्वथा) ऐश व इशरत (भोगविलास) में मुसतग़र्क़ (निमग्न) हो गया। नाच रंग और शराब व कबाब के सिवा कोई शग़ल (व्यसन) न रहा। तमाम अयान सल्तनत (राज्य के नेत्र मंत्री) बादशाह अहद की तबीअत का मैलान (झुकाव) देखकर उसी रंग में रंग गये। अमीरों में बाहम नोक-झोक होने लगी। मरदों में नवाब अमीर खाँ और औरतो में नूरबाई एक एक पर फबतियाँ कसते थे। यहाँ तक बुरहानउल्मुल्क और आसफ़ खाँ जैसे सजीदा (गंभीर) आदमियों पर भी उनके वार चलते थे और उनको भी कभी-कभी अपनी वज़ा (प्रणाली) के ख़िलाफ़ जवाब देना पड़ता था। यह रंग रफ्तः रफ्तः ख़ास व आम में फैल गया और तमाम उमराव की मजलिसो में मसखरापन होने लगा और इस तरह मुहम्मद शाह रंगीले की बदौलत तमसखुर और इसतहज़ा (भड़ौवा) आला से अदना तक तमाम तबक़ों (वर्गों) में फैल गया। फिर जब नवाब सआदत अली ख़ाँ के साथ दिल्ली की ज़बान लखनऊ में गई तो ज़बान के साथ ही साथ यह रंग भी वहाँ पहुँचा। लखनऊ में उसने और भी ज्यादा तरक़्क़ी पाई। वहाँ के अक्सर कामफ़रमा (कार्यकर्त्ता) ऐसे हुए जो तैश (आवेश) व कामरानी (इष्टसिद्धि) में मुहम्मदशाह पर भी सबक़त (वृद्धि) ले गये। उनके यहाँ भी मसख़रापन का बाज़ार ख़ूब गरम रहा। यहाँ तक कि नवाब सआदत अली ख़ाँ सानी (द्वितीय) जैसे मुदब्बिर (विचक्षण) और होशमन्द (जागरूक) को भी सैयद इंशा अल्लाह ख़ाँ बग़ैर चैन न आता था। अलग़रज़ जिस क़दर मुसलमानों की ज़बान उर्दू हिन्दुस्तान के अतराफ़ (प्रदेशों) में फैलती गयी उसी क़दर यह ख़सलत (टेव) भी फैलती गई। क्योंकि मज़ाह (परिहास) और ज़बान जैसा कि ऊपर बयान किया गया है लाज़िम व मलज़ूम (अन्योन्याश्रित) हैं-और

चूँकि देहली और लखनऊ की जबान उर्दू के लिहाज से तमाम हिन्दुस्तान पर तरजीह (मान) है इसलिए यह दोनों शहर हँसी और चुहल के लिहाज से भी और शहरों से बालातर (श्रेय) रहे।

—त० अ० १८६७ हि०, पृ० २६२ ३।

मौलाना हाली ने 'मजाह' के प्रसंग में जिस नव्वाब अमीर खाँ का गुण-गान किया है उसी के विषय में अदीबउलमुल्क नव्वाब सैयद नसीर खाँ साहब खयाल फरमाते हैं।

इन उमरा में बजमाना फर्रुखसियर एक अमीर बातदबीर (उपायी) था जिसे तारीखी जबान उमदतुलमुल्क कहती और खिलकत (पूजा) नव्वाब मुहम्मद अमीर खाँ के नाम से याद करती और बज्मे शुअरा (कवि गोष्ठी) 'अजाम' लकब (उपाधि) व तखल्लुस (उपनाम) से पुकारती है। इस शागिर्द 'बेदिल' ने इधर जो दिल दिया तो और उमरा ने भी उनका साथ देकर 'उर्दू' की तरफ रुख किया और फिर तो दिल्ली में उसकी आवाज यों गूजी कि सारे मुल्क में पहुँच गई और हर तरफ से उसकी सदाये बाज गश्त (प्रतिध्वनि) (इको) आने लगी।

—मुगल और उर्दू, पृ० ५१।

सो कैसे, तनिक इसे भी देख लें। कहते हैं—

उमदतुल्मुल्क ने और उमरा के मशविरे (परामर्श) से देहली में एक उर्दू 'अंजुमन' कायम की। उसके जलसे होते, जबान के मसयले छिड़ते, चीजों के उर्दू नाम रक्खे जाते, लफ्जों और मुहाविरों पर बहसे होतीं और बड़े रगड़ों झगड़ों और छानबीन के बाद 'अंजुमन' के दफ्तर में वह तहकीकशुदा (परीक्षित) अल्फाज व मुहाबरात क़लमबन्द होकर महफ़ूज (सुरक्षित) किये जाते। और बकौल 'सियरुलमुतारत्तरीन' इनकी नकलें हिन्द के उमरा व रुसा (रईसों) के पास भेज दी जातीं और वह उसकी तकलीद (अनुकृति) को फख्र जानते और अपनी अपनी जगह उन लफ्जों और मुहाविरों को फैलाते।" —मुगल और उर्दू, पृ० ६०।

अदीबुल्मुल्क नव्वाब सैयद नसीर खाँ के इस कथन का सार समझना हो तो 'इंशोर' सैयद इंशा अल्लाह खाँ के इस कथन पर ध्यान दीजिये—

यहाँ (शाहजहानाबाद) के ख़ुशबयानों ने मुत्तफ़िक़ (एकमत) होकर मुतादि्द (गिनी हुई) ज़बानों से अच्छे अच्छे लफ़्ज़ निकाले और बाज़ो इबारतों और अल्फ़ाज़ में तसर्रुफ़ (हस्तक्षेप) करके और ज़बानों से अलग एक नई ज़बान पैदा की, जिसका नाम उर्दू रखा। ज़ाहिर है कि जिस दिन से शाहजहाँ बादशाह ने इस शहर को आबाद किया और इसे शाहजहानाबाद के नाम से मौसूम (नामी) किया उस दिन से आज के दिन तक यह शहर हिन्दुस्तान के बादशाहों की राजधानी है। ज़मान साबिक़ (पूर्वकाल) में हर शहर के आदमी इस शहर में आते और तहज़ीब (सभ्यता) व शाइस्तगी (शिष्टता) हासिल करते। यहाँ के बाशिन्दे दूसरे शहर में नहीं जाते और अगर किसी ज़रूरत से कहीं बाहर जाते तो उस मुक़ाम के शुरफ़ा (शरीफ़) उनकी ज़ियारत (अर्चना) के लिए आते और उनकी सुहबत से निशस्त (बैठना) व बरख़ास्त (उठना) और गुफ़्तगू (वार्तालाप) के तौर-तरीक़ (चाल-ढाल) और आदाब (विनय) मजलिस की और बातें सीखते।

—दरियाए लताफ़त, ४०२-२।

सैयद इंशा ने बनी दिल्ली की जिस बीती दशा का बोध कराया है उसको सामने रख कर अब जानना यह चाहिये कि—

शाहजहाँ आबाद की ज़बान, यह है जो दरबारी और मुसाहिबत (पार्श्ववर्ती) पेशा (पार्षद) क़ाबिल अशख़ास (व्यक्तियों) ख़ूबसूरत माशूक़ो, मुसलमान अहल हिरफ़ (कलाविदों) शुहदो (विटों) और उमरा के शागिर्द पेशा और मुलाज़िमों हत्ता (यहाँ तक) कि उनके ख़ाकसेरों (मेहतरों) की ज़बान है, यह लोग जहाँ कहीं पहुँचते हैं उनकी औलाद दिल्लीवाल कहलाती है और उनका महल्ला दिल्लीवालों का महल्ला बाजता है और अगर तमाम शहर में, फैल जायँ तो उस

शहर को उर्दू कहते हैं, लेकिन इन हज़रात का जमघटा सिवाय लखनऊ के और कहीं खाकसार (विनीत) की राय में सुबूत को नहीं पहुँचता। अगरचे मुरशिदाबाद और अज़ीमाबाद के बाशिन्दे अपने ज़ोम (दर्प) में खुद को उर्दूदाँ और अपने शहर को उर्दू कहते हैं, क्योंकि अज़ीमाबाद (पटना) में देहलीवाले एक मुहल्ला के अन्दाज़े के रहते होंगे" और नव्वाब सादिक़ अली खाँ उर्फ़ मीरन और नव्वाब कासिम अली खाँ आला जाह के ज़माने में इसी क़दर या इससे कुछ ज्यादा मुरशिदाबाद में होंगे। और अहूल मुगलपूरा और दूसरे शाहजहानाबादी इस बहस से खारिज हैं। मगर लखनऊ में क़रीब होने की वजह से तमाम देहली वाले, फसीह (शिष्ट) और गैर फ़सीह (अशिष्ट) टूटकर आ गये हैं और यह शहर लखनऊ नहीं रहा शाहजहानाबाद हो गया।

दरियाये लताफत पृ० १२१ २।

'उर्दू' के सकेत के विषय में सैयद इंशा ने जो कुछ लिखा है वह इतना स्पष्ट है कि उस पर किसी प्रकार की टीकाटिप्पणी की आवश्यकता नहीं है। फिर भी हम देखते हैं कि आज उर्दू के इतिहास में उनके इस मत का उल्लेख तक नहीं होता और एक से एक बढ़कर अजीब और मनमानी बात उर्दू के सबंध में रात दिन पानी पी-पीकर फैलाई जाती और घड़ी घड़ी रह रहकर नागरी वा हिन्दी को कोसा जाता है। सच तो यह है कि सैयद इंशा ने दरियाए लताफत में जो कुछ उर्दू के बारे में लिख दिया है वह इतना स्पष्ट और खरा है कि उसकी आड़ में किसी की शैतानी चल नहीं सकती। निदान उर्दू के प्रसंग में उसे आँख मूँदकर पी जाना ही वर्तमान मुसलमान का धर्म समझा जाता है। इसलाम का किसी भाषा से क्या संबंध है, इसे रसूल के बन्दे भलीभाँति जानते हैं और इसी की पुकार पर आज उर्दू को 'नबी की जबान' भी कह पाते हैं। पर विचारणीय बात तो यह है कि आज यह उर्दू का सच्चा संकेत लोगों से छिपाया क्यों जाता है और खुलकर क्यों *नहीं कह दिया जाता कि वास्तव में उर्दू का अर्थ है 'शाही जबान'* और उर्दू का सच्चा संकेत है 'शाही पड़ाव' या शाही अड्डा ही, कुछ हिन्दू-मुसलिम लश्कर नहीं।

हिन्दू-मुसलिम एकता की चिन्ता आज इन उर्दू बन्धुओं को इतनी सता र
है कि किसी को छुट्टी ही नहीं मिलती कि वह दरियाए लताफत का अध्ययन क
और उर्दू के साधु संकेत को जनता के सामने सचाई के साथ रख दे। और
और, उसके सम्पादक मौलाना अब्दुल हक भी उसका नाम तक नहीं लेते प्र
यह भूल ही जाते हैं कि कभी उन्हीं ने जमकर लिखा कि—

इसमें मुतलक़ (निपट) शुबहा नहीं सैयद इशा अल्लाह खाँ का उ
जबान पर बहुत बड़ा एहसान है और खुसूसन यह किताब इन्होंने ऐस
लिखी है कि जब तक उर्दू जबान जिन्दा है इसके मुताला (परिशील
और उससे इस्तफादा (लाभ उठाने) और सनद (प्रमाण) लेने की जरूर
बाक़ी रहेगी। मुकद्दमा मीम

इतना ही नहीं, उक्त मौलाना हक का तो यहाँ तक कहना है कि—

उर्दू जबान के कवायदे मुहाविरात (मुहाविरों के व्याकरण) औ
रोजमर्रा (बोलचाल) के मुताल्लिक़ इससे पहले कोई ऐसी मुस्तन
(प्रामाणिक) और मुहक्किकाना (शोधपूर्ण) किताब नहीं लिखी गई थ
और अजीब बात यह है कि इसके बाद भी कोई किताब इस पाया (कोटि
की नहीं लिखी गई। जो लोग उर्दू जबान का मुहक्किकाना मुताला करन
चाहते हैं या उसकी सर्फ़ व नह्व (अनुशासन) या लुग़ात (कोष) प
कोई मुहक्किकाना तालीफ़ (रचना) करना चाहते हैं उनके लिये इसक
मुताला जरूरी नहीं बल्कि ना गुजिर (अनिवार्य) है। —वही याव

मौलाना अब्दुल हक उर्दू के लिये मर मिटने को तैयार हैं पर भूल कर भ
किसी मजलिस में आप यह मानने को तैयार नहीं हैं कि कभी देहली के खुशबयान
लोगों ने मिल कर एक नई जबान पैदा की जिसका नाम उर्दू रखा', हाँ यह करने
के लिये लालायित अवश्य हैं कि कुछ ऐसा करतब दिखाया जाय कि हिन्दुस्तान
या हमारी जबान की आड़ में उर्दू बच निकले। हम इसे सचाई तो कह नहीं
सकते। उर्दू में इसे चाहे जो कुछ कहा जाय पर सीधी बोली में तो यह ठगी है।

ी है, बतोला है। (का सुनाइ चह काह दिखावा' की भेदभरी भूमिका है। 'गई
ा मति धूर्त' इसी को तो कहते हैं ?

हाँ, तो हैरोद सैयद इंशा ने, 'हाली' के नव्वाब सआदत अली खाँ सानी जैसे
हम्बिर और होशमन्द नेव्वाब के शासन में, ललकार कर लिखा है कि शाहजहाना-
द के शाही लोग जहाँ घेर कर बस जाते हैं उसे उर्दू कहते हैं। शाहजहाँ ने जो
हजहानाबाद की शाही बस्ती को उर्दूए मुअल्ला का नाम दिया उसमें भी यही
ाना काम कर रहा है, जिन लोगों ने मुगल परम्परा का अध्ययन आँख खोल कर
या है और अपने साहस को भी बेच नहीं खाया है वे निधड़क धड़ल्ले से मट
ह सकते हैं। 'ठीक। यही तो उर्दू का सच्चा संकेत है।'

रही उर्दू ज़बान की बात। सो भी सुन लीजिए। सुदूर दक्षिण, वेलोर, मदरास
मौलाना मुहम्मद बाक़र आगाह अपनी हैशेबहश्त मसनवी (सन् १२११ हि०) की
बाचा में लिखते हैं—

जब शाहाने हिन्द इस गुलज़ार (प्रफुल्ल) जन्नत नज़ीर (स्वर्गतुल्य)
ो तसख़ीर (अधीन) किए तर्ज़ व रोज़मर्रा दक्खिनी नह्ज़ (रीति)
हावरा हिंदी से तबदील पाने लगे तो आँ कि रफ्ता रफ्ता इस बात से लोगों
ो शरम आने लगी और हिन्दुस्तान मुद्दत लग जवान हिन्दी कि उसे
ज भाषा बोलते हैं रवाज रखती थी अगरच लुगत संस्कृत उनकी
ामल उसूल और मख़रज़ा (स्रोत) फ़नून फ़रोअ उसूल (सिद्धान्त
ी उप कला) है। पीछे मुहावरा ब्रज में अल्फ़ाज़ अरबी व फारसी
तदरीज (क्रमश) दाख़िल होने लगे और उसलूबे (प्रणाली) ख़ास
ो उसकी बोलने लगे। सबब से इस आमेज़िश (मिश्रण) के यह ज़बान
ख़ता से मुसम्मा (नामी) हुई जब सनाई व ज़हूरी नज़्म व नस्र
फ़ारसी में बानी तर्ज़ जदीद (नवीन) के हुए हैं। वली गुजराती राज़ल
ख़ता की ईजाद में सभों का मुक्तदा (अग्रणी) और उस्ताद है, बाद
समके जो सुख़न सजाने (वाग्मी) हिन्द बुरोज (प्रकट) किए ? बेशुबहा
स नह्ज़ (रीति) को उससे लिये और मिन बाद (तत्पश्चात्) उसको

वासलूब खास (विशेष प्रणाली) मख़सूस (मर्यादित) कर दिए और उसे उर्दू के भाके से मौसूम किए। अब यह महावरा मातवर (विश्वासी) शहरों में हिन्द के जैसा शाहजहानाबाद, लखनऊ, अकबराबाद वग़ैरह रिवाज पाया और जो चाही सभों की मन भाया।

—मदरास में उर्दू; १९३८ ई०, पृ० ४६-४७।

मौलाना बाक़र 'आगाह' के बासलूब खास मख़सूस कर दिए और उसे उर्दू के भाके से मौसूम किए' को ध्यान में रख कर तौलें तो पता चले कि सैयद इंशा कितने पानी में पैठकर उर्दू का कैसा रत्न निकाल कर 'दरियाए लताफ़त' में रख देते हैं; पर समय उसका नहीं बताते, सैयद जो ठहरे। पर मौलवी मुहम्मद बाक़र 'आगाह' इस ओर संकेत कर जाते हैं। कहते हैं—

अवाख़िर (अन्त) अहद मुहम्मदशाही से इस असर (काल) तलक इस फ़न में अक्सर मुसाहिर शुअरा इरसा (प्रौढ़ता) में आए और अक़साम (भेद) मजमूात (छन्दों) को जलवे लाए हैं।

मिस्ल दर्द, मज़हर, फ़ुग़ाँ...पृ० ४७।

'आगाह' के इस 'अवाख़िर अहद मुहम्मदशाही' को पकड़ कर देखिए तो किसी और की साखी भी इधर आती है। सैयद 'हाली' ने 'अमीर ख़ाँ', 'बुरहान उल्मुल्क' और 'आसफ़ ख़ाँ' का नाम लिया है और मराह' का विधाता 'अमीर ख़ाँ' को ठहराया है। इधर सैयद नसीर ख़ाँ 'ख़याल' ने भी उन्हीं को 'उर्दू अंजुमन' का जन्मदाता ठहराया है। इतिहास बताता है कि सआदत ख़ाँ बुरहानउल्मुल्क के निधन के उपरान्त नव्वाब अमीर ख़ाँ प्रमुख में आए और मुहम्मदशाह के कान लगे अमीर बने। सन् ११५१ हि० में बुरहानउल्मुल्क का विष वा विषफोड़ा से अन्त हुआ और सन् ११५६ हि० तक उमदतुल्मुल्क जीवित रहे। निदान मानना पड़ता है कि 'उर्दू' का नामकरण इसी काल में कभी हुआ। वैसे अमीरों की छेड़छाड़ तो पहले से भी चलती आ रही थी पर उर्दू का पक्का सिक्का अभी से चला। इससे पहले उर्दू जैसी कोई चीज न थी। 'नई ज़बान पैदा की' का यही अर्थ है।

अच्छा उर्दू की जन्मतिथि पर विचार करते समय इतना और भी टाँक लीजिए कि उर्दू के आदि उस्ताद शाह 'हातिम' अपने 'दीवानज़ादा' की भूमिका में लिखते हैं--

दरीं विला अज़दह दवाज़दह साल अक्सर अल्फ़ाज़ रा अज़ नज़र अन्दाख़्तः लिसाने अरबी व ज़बाने फ़ारसी कि क़रीबुल् फ़हम व कसीरुल् इस्तैमाल बाशद व रोज़मर्रः देहली कि मिर्ज़ायाने हिन्द व फ़सीहाने रिन्द दर मुहावरः दारन्द मंज़ूर दाश्तः।

--सौदा, अंजुमन तरक्की उर्दू, देहली, सन् १९३६ ई०, पृ० २६।

शाह हातिम का कहना है कि--इस काल में ग्यारह बारह वर्ष तक बहुत से शब्दों को त्याग कर अरबी व फ़ारसी के शब्द जो सुगमता से समझ में आते हैं और प्रयोग में बहुत आते हैं और दिल्ली के रोज़मर्रा को कि मिरज़ायाने (मुग़ल राजकुमार) हिन्द व फ़सीहाने रिन्द (शिष्ट सूफ़ी) अपने मुहावरा में प्रयोग करते हैं मंज़ूर रहा है।

विचारने की बात है कि शाह 'हातिम' ने सन् ११६६ हि० में ग्यारह बारह वर्ष का प्रयोग किया जिसका अर्थ हुआ कि सन् ११६६ से ११-१२ वर्ष पहले ही उर्दू की इस बोली का आरम्भ हो गया था। अर्थात् उमदतुल्मुल्क की उक्त अंजुमन ११५७-११५८ हि० के बीच कभी कायम हुई। यहाँ इतना और भी जान लेना चाहिए कि यही है वह समय जब मुहम्मदशाह 'रंगीला' के दरबार में नवाब उमदतुल्मुल्क (अमीर ख़ाँ) की तूती बोल रही थी और नव्वाब बुरहानुल्मुल्क (सआदत ख़ाँ) का दामाद सफ़दरजंग (अबुल मंसूर) 'मीर आतिश' बना हुआ था। सारांश यह कि अमीर ख़ाँ की ईरानी महफ़िल खूब गरम हो रही थी और बनी जा रही थी वह 'मज़ाही ज़बान' जिसके बारे में सैयद 'हाली' की गोहार है--

इस ज़मीम (सक्र) ख़सलत (प्रकृति) की बदौलत उर्दू ज़बान ने जो कि ख़ास मुसलमानों की ज़बान कहलाती है बहुत कुछ वसअ़त (विस्तार) पैदा की है। ग़ालिबन् दुनिया में कोई ज़बान ऐसी न होगी जिसमें

हमारी ज़ुबान की बराबर गालियाँ और फ़ह्स (अश्लील) व बेशर्मी के अल्फ़ाज़ और मुहावरात भरे हुए हों। एक फ़ाज़िल अँगरेज़ ने इन दिनों में उर्दू ज़ुबान की एक डिक्शनरी अँगरेज़ी में लिखी है जिस पर अँगरेज़ी अख़बारनवीस ने यह एतराज़ किया था कि इस डिक्शनरी को फ़ारबस और शेक्सपियर पर इसके सिवा कोई तरजीह नहीं है कि इसमें हज़ारों गालियाँ और फ़ह्श के मुहावरे ऐसे हैं जो उनमें नहीं हैं। लेकिन मुसन्निफ़ (रचयिता) ने एक मुख़्तसर जवाब देकर सबको साकित (मौन) कर दिया। उसने कहा कि फ़ारबस और शेक्सपियर सिर्फ़ लुग़ात उर्दू की डिक्शनरियाँ हैं और हमारी किताब लुग़ात उर्दू के सिवा हिन्दुस्तानियों की तबीअत का भी आइना है जिसमें उनके अख़लाक़ (आचार) और ख़सायल (ढंग) और जज़बात (भाव) निहायत उम्दा तौर से नज़र आते हैं। अगरचे मुसन्निफ़ ने इस मुक़ाम पर हिन्दुस्तानियों का आम लफ़्ज़ लिखा है मगर हक़ीक़त में उस किताब से ज़्यादातर मुसलमानों ही के अख़लाक़ ज़ाहिर होते हैं क्योंकि जहाँ तक हमको मालूम है उसमें फ़ह्श और बेहयाई के वही अल्फ़ाज़ हैं जो मुसलमानों की बोलचाल से मख़्सूस हैं और जो ख़ास उन्हीं की सुसाइटी में रवा (व्यक्त) हुए हैं।

—उ० अ०, सन् १२२७ हि०, पृ० २६३-४।

यही उर्दू यदि मुसलमानों की ज़बान है तो रहे पर भगवान से प्रार्थना है कि वह हिन्दियों की बोली न बने, न बने, फिर न बने।

अच्छा, यह तो सिद्ध हो गया कि उर्दू वस्तुतः मुहम्मदशाह 'रंगीला' के शासन में नव्वाब अमीर ख़ाँ की देखरेख में पैदा हुई और अपनी दिल लगी के कारण चारों ओर फैली। पर अभी तक यह न खुला कि वास्तव में उर्दू है किसकी ज़बान और कब से उर्दू का अर्थ हो गया उर्दू ज़बान। उर्दू के बारे में आज चाहे कुछ भी कहा जाय पर अमीर ख़ाँ की उक्त अनुमति के पहले उसका कहीं पता न था। दक्षिण में दक्खनी में रचना होती थी और उत्तर में हिन्दी में। 'हिन्दी' और 'दक्खनी' के सम्बन्ध में यहाँ कुछ कहने की आवश्यकता नहीं।

ताना तो यहाँ यह है कि खान आरजू जैसा फारसी का प्रकांड पंडित भी उर्दू की बोली को ठीक नहीं समझता। उसे ब्रजभाषा अथवा ग्वालियरी ही भाती है। इसलिए न हाफिज महमूद शेरानी साहब किस चाव से क्या फरमाते हैं। आप फरमाते हैं—

सबसे ज्यादा जिस बात से ताज्जुब होता है यह है कि 'खान' देहली की जबान और उर्दू को भी वकअत (महत्त्व) की निगाह से नहीं देखते। उनके नजदीक हिन्दुस्तानी जबानों में सबसे ज्यादा शाइस्ता (शिष्ट) और मुहज्जब (सभ्य) जबान ग्वालियरी है। चुनाचे इसी ग्वालियरी के अल्फाज अक्सर मौकों पर नक़ल (उद्धृत) किए हैं और उर्दू से बहुत कम सनद ली है।

—ओ० का० मैगजीन लाहौर, नवम्बर सन् १६३१ ई०, पृ० १०।

हाफिज शेरानी साहब हैरान हैं कि खान 'आरजू' उर्दू से सनद क्यों नहीं लेते। निदान हार कर निष्कर्ष निकालते हैं—

हक़ीक़त यह कि हमारी उर्दू जबान उस वक्त सय्याली (बहती) कैफियत में थी। फ़नाह मुहावरा और बेमुहावरा का कोई मियार (मापक) न था। अवाम (जन सामान्य) की बोली थी, ख़वास (विशिष्टों) को इससे सरोकार न था। तब ही तो खान आरजू तिनक तिनक कर ग़लत अवाम हिन्दुस्तान व रोजमर्रा जुह्हाल (जपाटों) हिन्दुस्तान लिखते हैं। —वही, पृ० १५।

निवेदन है, हरगिज नहीं। कारण भी कुछ और ही है। क्षण भर के लिये आप आँख मूँद लें और यह सर्वथा भूल जायें कि उर्दू कभी 'अवाम की बानी थी अथवा हरियानी कभी उर्दू की शाख थी। बस, फिर आँख खोल कर देखिए और कहिए तो सही कि खान आरजू वस्तुतः क्या कहते हैं। खान साहब भाषा की दृष्टि से ब्रजभाषा या ग्वालियरी का प्रमाण मानते हैं, फिर उर्दू की जबान का नाम लेते हैं। जब यहाँ से और नीचे उतरते हैं शाहजहानाबाद का नाम लेते हैं और अन्त में हार कर गवाँरी ठहरा देते हैं। निर्णय के लिए कहीं दूर जाने की

आवश्यकता नहीं। ब्रजभाषा की श्रेष्ठता तो आप मान ही चुके हैं। शेष के लिए अपने दिये गये अवतरण पर विचार कीजिये—

लेकिन इड़फना बजबाने उर्दू अह्ल शहरहा नीस्त। शायद जबानं कियात व मवाजा बाशद व बर्दी माने निगलना शुहरत दारद।

—वही, मई, १९४१, पृ० ३८।

अर्थात् 'हड़फना' उर्दू की जबान में नगरों में प्रचलित नहीं है। सभव है कि कसबों और गाँवों की भाषा हो। और इस प्रकार इसका अर्थ निगलना प्रसिद्ध हो।

यदि इतने से 'शहर' और 'उर्दू' की गुत्थी न सुलझती हो तो कृपया इस पर ध्यान दें और प्रत्यक्ष देख लें कि सचमुच खान आरजू का पक्ष क्या है। कहते हैं-

रजवाड़ बर्दी माने ईस्तेलाह शाहजहानाबाद अस्त बल्कि अह्ल उर्दू अस्त।

—वही पृ० ३८।

'रजवाड़ा' इस अर्थ में शाहजहानाबाद में प्रयुक्त है। बल्कि उर्दू के लोग बोलते हैं

'बल्कि अहल उर्दू' से प्रकट ही है कि खान आरजू 'उर्दू' को 'शाहजहानाबाद' से कुछ भिन्न और बढ़कर समझते हैं। स्मरण रहे खान आरजू के जीतेजी 'उर्दू' उर्दू की जबान से आगे नहीं बढ़ी। उन्होंने इसी से 'उर्दू' का स्वतंत्र प्रयोग न कर 'बजबाने उर्दू' का प्रयोग किया। माना कि यह उनकी अन्तिम रचना नहीं, पर इससे तो सिद्ध नहीं होता कि—

खान साहब गालिबन् पहले शख्स हैं जो उर्दू का लफ्ज़ जमाने जयान इस्तैमाल में लाते हैं।—वही, नवम्बर सन् १९३१, पृ० १३-१४।

खान आरजू के जो अवतरण प्राप्त हैं वे सभी इस पक्ष में हैं कि खान आरजू के समय में उर्दू की जबान तो थी पर 'उर्दू' नहीं। हाँ खान ने इतना अवश्य किया कि 'उर्दू ए मुअल्ला' से म'री-मरकम नाम को कम कर उर्दू कर दिया और उर्दू की जबान को शहर (शाहजहानाबाद) की जबान से अलग और अच्छी माना। बस इससे आगे और कुछ न किया। अर्थात् उर्दू को 'उर्दू की जबान' का पर्याय नहीं बनाया।

भाषा के अर्थ में उर्दू का प्रयोग सब से पहले कब और किसने किया इसकी खोज में उर्दू के लोग लगे हुए हैं और अपनी अपनी हाँक रहे हैं। हाफिज़ महमूद शेरानी ने खान आरजू को जिस 'गरायबुल्लुगात' की टिप्पणी के आधार पर प्रथम प्रयोक्ता माना था वह 'उर्दू' नहीं 'उर्दू की जबान' के पक्ष में है। उर्दू और उर्दू की जबान का प्रयोग गुलाम हमदानी 'मसहफी' ने किया है और सैयद इंशा ने भी। मसहफी का एक शेर है—

अलबत्ता ममहफी को है रेख़ता में दावा,
याने कि है जबाँदाँ उर्दू की वह जबाँ का।

सैयद इंशा को मसहफी का यह दावा खला और उन्होंने भरी मजलिस में उनकी जबान पकड़ कर कहा—

मुशफ़िक़ बड़ी कमान को कड़री न बोलिए,
चिल्ला के मुफ़्त तीर मलामत न खाइए।
उर्दू की बोली है यह भला खाइए क़सम,
इस बात पर अगर आप ही मसहफ़ उठाइए।

ममहफी और सैयद की नोक झोक का प्रभाव मसहफी पर अवश्य पड़ा और उन्होंने अपने अभिमान को शिष्ट बनाया। देखिए अब उनका कहना है—

ख़ुदा रक्खे जबाँ हमने सुनी है मीर व मिरज़ा की,
कहें किस मुँह से हम ऐ मसहफ़ी उर्दू हमारी है।

इसमें तो स देह का लेश भी नहीं कि यह 'उर्दू' वस्तुत 'उर्दू' की जबान अथवा उर्दू भाषा का द्योतक है पर इसका समय क्या है? शेरानी साहब कहते हैं—

शेर की अन्दरूनी शहादत से वाजह (प्रकट) होता है कि इसकी तहरीर के वक्त मीर तक़ी 'मीर' मुतवफ़्फ़ी (मृत) सन् १२२५ हि० और मिरज़ा 'सौदा' मुफ़तवफ़्फ़ी सन् ११९५ हि० जिन्दा थे। जैसा कि दुआया-कलमा 'ख़ुदा रक्खे' से जाहिर है।

—ओ० मै०, मई १९४१ ई०, पृ० ३४।

किन्तु हमारी धारणा है कि 'ख़ुदा रक्खे' का सम्बन्ध मीर व मिरज़ा से नहीं स्वयं मसहफी से है और 'सुनी है' से सिद्ध होता है कि यह शेर मीर व मिरज़ा

के निधन के उपरान्त ही कभी लिखा गया। याने १२२५ हि० के पहले का इसे नहीं मान सकते क्योंकि यही मीर की निधन तिथि है। उधर सैयद इंशा की दरियाये लताफत १२२२ हि० में लिखी गई। निदान मानना पड़ता है कि मसहफ़ी का यह प्रयोग सैयद इंशा से बाद का है। उर्दू के प्रथम प्रयोग का श्रेय उन्हें नहीं मिल सकता। हाँ, मुरादशाह का यह शेर अवश्य ही 'इंशा' की उक्त रचना से पुराना है और है विशेष विचार का पात्र। लखनऊ में पड़े पड़े 'मुराद' अपने लाहौर के मित्रों को एक पत्र में लिखते हैं—

> घराए तोहफ़ए याराने आँसू,
> गुहरहा आरम अज़ बाज़ारे उर्दू।
> वह उर्दू क्या है यह हिन्दी ज़बाँ है,
> कि जिसका कायल अब सारा जहाँ है।
>
> —वही, पृ० ३३ पर अवतरित।

प्रस्तुत पद्य में 'उर्दू' का प्रयोग भाषा के अर्थ में तो है ही 'हिन्दी ज़बाँ' का प्रयोग भी ध्यान देने योग्य है और 'अब' की अवहेलना तो उर्दू के प्रसंग में कभी हो ही नहीं सकती। यह पुकार कर कहता है कि उर्दू अब जाके मान्य हुई है। इसके पहले 'सारा जहाँ' इसका 'क़ायल' न था वह तो हिन्दी नहीं फारसी ज़बान पर लट्टू था। मुरादशाह का यह पत्र सन् १२०३ हि० में लिखा गया था। अतः उर्दू की ख्याति का यही समय मानना चाहिए, इसके पहले कदापि नहीं। 'अब' का यही अनुरोध और पद्य का यही उछाह है। परन्तु सबसे अधिक देने की बात है 'अज़ बाज़ारे उर्दू' पूरे पद्य का अर्थ है वहाँ के मित्रों के उपहार के लिये उर्दू के बाज़ार से मोती मोल लिये। वह उर्दू जहाँ से मोती लिये और कुछ नहीं यह हिन्दी ज़बान ही है जिसका महत्व अब सभी लोग मानते हैं। स्मरण रहे, 'मसहफ़ी' ने कहा भी है—

> मसहफ़ी फ़ारसी को ताक़ पर रख,
> अब हैं अशआरे हिन्दवी का रवाज।

'सारा जहाँ' का संकेत चाहे जो हो पर उर्दू भाषा के अधिकारी सदा उर्दू के ही लोग रहे हैं। सैयद इंशा ने 'दरियाए लताफ़त' में भाँति भाँति से इसे

इतना खोल कर कह दिया है कि इस पर विवाद की आवश्यकता ही नहीं। उर्दू मुसलमानों की जबान है यह तो सभी कहते हैं पर किन मुसलमानों की इसे विरले ही जानते हैं, सैयद इंशा इसी को बताते हैं और अन्त में निश्चित कर देते हैं कि क्यों अहल हिन्द एवं 'सादात बारहा' की भाषा मान्य नहीं होती। देखिए किस शान से लिखते हैं—

अह्ल मुगलपूरा और सादात बारहा देहली में पैदा होने के बावजूद उर्दू के अहल जबान नहीं इसकी वजह यह है कि वह अपने माँ-बाप और दूसरे बुजुर्गों से वतन शरीफ और वहाँ के बाशिन्दों के औसाफ सुनते रहे हैं याने शुजाअत (वीरता) सखावत (दानशीलता) मुसाफिर नेवाजी (अतिथिसेवा) आका परस्ती (स्वामिभक्ति) पैरवी हर बुजुर्ग से उलझ पड़ना और सामने अक्खड़पने और गुस्ताखी से बात करना, अपनी शुजाअत के गरूर से किसी की बात न सुनना, जबान की सेहत पर मुतवज्जह (ध्यानी) न होना, मोतरज्ज (आलोचक) को तलवार दिखाना, और शहर के औबाशों (जीवों) की वजा को, जिनके लिबास में गोटा किनारी हो, बुरा समझना, पगड़ी की बन्दिश और बोलचाल में असलाफ (पूर्वजों) की पैरवी करना, और पाए (राजधानी) तख्त के जरपोशों (सुसज्जितों) तक़लीद (अनुकृति) को मराफत के तर्ज या मुनाफा (घातक) समझना ऐसी बातें बचपन से उनके कानों में पड़ती रहती हैं, और वह हर चीज में अपने बापदादों का चरबा (प्रतिरूप) बनना चाहते हैं और ऐसे आदमी से बहुत खुश होते हैं जो कहे कि फुलाँ शख्स शाहजहानाबादियों की सुहबत से अपने बुजुर्गों की जबान, चाल-ढाल, और पगड़ी की वजा को भूल गया है लेकिन खुदा का शुक्र है कि इस शहर का एक लफ्ज भी आप की जुबान पर नहीं चढ़ा। और उमरा की मुसाहबत और उनकी सरकारों की मुलाजमत को बड़ा ऐब जान रोहतक गोहाना, बढाना, इन्दरी, कहाम, अम्बाला, हाँसी, हिसार हाडल और पलाल वगैरह की फौजदारी पर गिरते हैं और वहाँ पहुँचकर अहल मुगलपूरा को बटोर लेते हैं जिनके बुजुर्ग,

लाहौर, पेशावर, काबुल; गज्नी बलख; बुखारा और समरकन्द से निकल कर आए हैं और जो खुद पेशावरी टोपी सर पर टेढ़ी रख कर इस तरह कि एक आँख उससे ढँक जाय बाहर फिरते हैं और भाई को भाई साहब या भया या भाईजान कहना ऐब जान कर 'आका' ही कहते हैं। —पृ० १०६–११०।

'आका' लोगों को सैयद इंशा ने जो आड़े हाथों लिया है वह कहाँ तक सटीक बैठा है इसकी उलझन में क्यों पड़ें। हमारा सीधा राजमार्ग तो हमें यह बताना है कि स्वयं सैयद इंशा भी उन्हें अहल हिन्द बताते ही नहीं अपि तु 'अहल हिन्द' की व्याख्या लिखते हैं।

अहल हिन्द से मुराद वह लोग हैं जिनके वालिदैन मुगल हों।

—दरियाय लताफ़त, पृ० २४३

'मुग़ल' के प्रसग मे भूलना न होगा कि हज़रत कायम ने भी उन्हें उर्दू से छाँट दिया है। आप लिखते हैं—

अकसरे अज तरकीबात फ़ुर्स कि मवाफ़िक मुहावर' उर्दू ए मुअल्ला मानूम गोश मीयानन्द मिनजुमल जबाजुल बयान मीदानन्द इल्ला तरजमान जबान मुगल बरेख़त करदन मकबह अस्त चि दरीं सूरत सेहत जबान यके अज हर दो नमी मानद।

अर्थात्

बहुत सी फारसी तरकीबें जो उर्दू-ए मुअल्ला के मुहावरा के अनुकूल हैं और लोग उनका बयान ठीक समझते हैं सिवाय जबान मुगल के उसको रेख़ता में करना अनुचित है क्योंकि ऐसी अवस्था में भाषा दोनों में से एक में भी नहीं रहती है।

क़ायम ने उर्दू-ए मुअल्ला की भाषा को अभी (११६७ हि०) रेख़ता ही कहा है तो भी इसमें से मुगलों को छाँट दिया है फिर भला सैयद इंशा उर्दू की उर्दू में उसे कैसे गिन सकते हैं। रही 'सादात बारहा' की बात। सो दुनियाँ जानती है कि मुहम्मदशा ही युग में तूरानी दल ने इन्हीं सैयदों को तोड़ा था और इन्हीं के साथ हिंदुस्तानी दल का अन्त भी कर दिया था। मुगल मुग़ल ही थे।

उर्दू से उन्हें कान पकड़ कर बाहर निकाल देना कोई असम्भव न था। पर आश्चर्य की बात तो यह है कि हिन्दी हो जाने के कारण बारहा के सैयद भी उर्दू में जलील हुए और उनकी वीरता भी दोष की दृष्टि से देखी गई। 'मज़ाह' की हद हो गई ? उर्दू का 'मजाक' भी कैसा मजाक है! मौलाना हाली ठीक ही कहते हैं कि 'मज़ाह' को 'मज़ाक़' कहना ठीक नहीं। पर उर्दू तो इसी मजाह पर कुरबान है और इसी के अभाव में 'सादात बारहा' की सैयद होने पर भी खिल्ली उड़ाई गई है और भाँति भाँति की दुर्गति की गई है परन्तु भाषाविदों को भूलना न होगा कि वस्तुत बारहा के सैयद ही उस भाषा के अधिकारी हैं जो कभी हिन्दी कही जाती थी किन्तु आज यूरप के प्रभाव से हिन्दुस्तानी, खड़ी बोली अथवा और कुछ कही जाती है हमें सचमुच बारहा के सैयदों का अभिमान होना चाहिये कि उन्होंने 'उर्दू' में रहते हुए भी 'उर्दू की जबान' को स्वीकार न किया और बराबर अपनी जन्मभाषा कौरवी पर अड़े रहे। इधर उर्दू ने जो कुछ किया शाह हातिम के मुँह से सुनिये। आप किस अभिमान से ललकार कर क्या कह जाते हैं? यही न कि—

रोजमर्रः देहली कि मिरज़ायाने हिन्द व फसीहाने हिन्द दर मुहावर: दारन्द मजूर दाश्त। सिवाय आँ ज़बाने हर दयार ता ब हिन्दवी की आँरा भाका गोयन्द मौकूफ करदा। महज़ रोजमर्रः कि आम फह्म वा खास पसन्द बूद एख़तयार नमूद।

ध्यान से सुनें। कहते हैं कि शाहजहानाबाद की बोलचाल को जो हिन्द के मीरजाओं (मुगल राजकुमारों) और फसीह सूफियों के व्यवहार की बाणी है ग्रहण किया। उसके अतिरिक्त चारों ओर की भाषा यहाँ तक कि 'हिन्दी' जिसे 'भाषा' कहते हैं, को त्याग दिया। केवल उस बोलचाल को स्वीकार किया जो सबकी समझ में आती और प्रमुख लोगों को भाती है।

अस्तु, शाह हातिम की फारसी घोषणा का अर्थ यह है कि उन्होंने दिल्ली की उस बोलचाल को प्रमाण माना जो हिन्द के शाही घराने यानें मुगल सम्राट् के कुल में बरती जाती थी और जो परदेशी सूफियों के व्यवहार में थी। अर्थात् जो 'उर्दू की जबान' कही जाती थी, 'देहलवी' मात्र नहीं। मद्दा तो शाही था पर उनका त्याग भी कुछ कम भयावह न था। उन्होंने उर्दू के बाहर की सभी

बोलियों को यहाँ तक कि हिन्दी को भी जिसे भाषा कहते हैं छोड़ दिया। बस, कृपा इतनी अवश्य की कि उन्हीं प्रिय बोलों को चुना जो भाते तो चुने लोगों को ही थे पर समझ में सब की आ जाते थे। १२ वर्ष के एक युग में उर्दू अंजुमन ने जो कुछ किया उसका मधुर परिणाम यह हुआ कि 'भाषा' 'मौकूफ़' हुई और कैसे बनी और कैसे वह नवों की ज़बान' कही गई; यह तो प्रसंग के बाहर की बात है। कहना यहाँ इतना ही है कि परदेशियों के प्रताप से उर्दू बन निकली और उसका प्रजा से कोई नाता न रह गया। वह ईरानी अमीरों और फक्कड़ मनमौजियों की जबान बनी और फिर उनकी मुहाफ़िल को फ़ारसी की जगह गरम करने लगी और धीरे धीरे दूती से नायिका बन बैठी। फिर तो पटरानी को सौत समझने के सिवा उसके पास कोई चारा ही न रह गया।

अच्छा, तो आपने देख लिया कि उर्दू किस प्रकार भाषा को छोड़कर 'उर्दू की जबान' पर खड़ी हुई और तिनक तिनककर सौत समझ हिन्दी को कोसने लगी और लखनऊ में पहुँच कर पूरी ईरानी बन गई; पर अभी आपको इसका पता न हुआ कि सो कैसे हुआ। लीजिये मीर तकी 'मीर' जैसा सरस हठीला कवि स्वयं ही मुँह खोलकर किस कुढ़न के साथ कहता है। सुनो तो, फिर आगे बढ़ो। सुनो—

तबीअत से जो फ़ारसी के मैंने हिन्दी शेर कहे,
सारे तुरुक बच्चे ज़ालिम अब पढ़ते हैं ईरान के बीच।

इसमें तो तनिक भी संदेह नहीं कि 'फ़ारसी तबीअत' को अपना लेने से हिन्दी शेर को ईरानी दिल में जगह मिल गई और यह हिन्दी भी धीरे धीरे फ़ारसी की जगह मुसलमानों की अदबी जबान बन निकली पर इसका सुखद परिणाम क्या निकला कुछ इसे भी देख लें। शम्सुल उलमा डाक्टर नजीर अहमद खाँ आप बीती बिलखकर सुनाते हैं—

मुसलमानों में ईजाय (ईति) नेशान बहैसियत क़ौमी जितनी ख़राबियाँ हैं, कुल तो नहीं, अकसर इसी लिटरेचर ने पैदा की हैं। यह लिटरेचर झूठ और ख़ुशामद सिखाता है। वह लिटरेचर वाक़आत और मौजूदात की असली ख़ूबी को दबाता और मिटाता। यह लिटरेचर मुतहिमात (गर्हित) और मफ़रुजात (छिन्न-भिन्न) के अमल

को फैक्ट्स (वाक़आत) बनाता, यह लिटरेचर नालायक़ वलवलों (तरंगों) को शोरिश (उत्तेजना) दिलाता। अगर किसी ने इस साँप को खिलाया है तो मैंने अपने तईं इससे कटवाया है। अगरचे बड़ी उम्र में मैंने बूढ़े तोतों की तरह आप ही आप थोड़ी सी अँगरेज़ी भी पढ़ ली थी, लेकिन मेरी तबीयत में एशियाई तालीम का रंग रच चुका था। अँगरेज़ी पढ़ने से इतना तो हुआ कि मुझको अपने यहाँ के लिटरेचर के अयूब (दोष) मालूम होने लगे। मगर मैं वही का वही रहा। अब भी अगर कोई बरजस्ता (उपयुक्त) शेर सुन पाता हूँ, चाहे उसमें कितना ही मुबालिग़ा खिलाफ़ क़ियास क्यों न हो बे एख़्तयार फड़क उठता हूँ। यह सारी कमबख़्त बला फ़ारसी की फैलाई हुई है। ख़यालात और मज़ामीन के एतबार से तमाम दुनिया के लिटरेचरों में इस ज़बान के लिटरेचर से बदतर और कोई लिटरेचर नहीं। इसने क़ौमी मज़ाक़ को ऐसा बिगाड़ा और इस क़दर तबाह किया कि हम लोगों को वाक़आत में मज़ा नहीं आता।

—हयातुल नज़ीर, शम्सी प्रेस, देहली, १६१२ ई०, पृ० ५६६।

फिर भी हम सुनते हैं कि कहीं उच्च स्वर से कोई पुकार पुकारकर कहता है—

कहाँ है वह ज़बान जिसकी मुवज़्ज़िद (निर्माता) हमारी क़ौम है। वह मुसलमान जिन्होंने इस मुल्क को फ़तह किया और जिन्होंने इस ज़बान को क़ायम किया जिसमें इस वक़्त मैं आपके सामने यह अर्ज़ कर रहा हूँ, वह ज़बान जो कि चन्द करन (युग) पेश्तर कोई ज़बान न थी और अब वही ज़बान हमारी असली ज़बान ख़याल की जाती है ? वह ज़बान जिसमें अब हम अपने ख़यालात अपने दोस्तों से अपनी जोडुओं से अपने बच्चों से ज़ाहिर करते हैं ? बताओ कि इस ज़बान में वह कौन है जिसको अब हम बड़ा शाइर या एक बड़ा मुंशी कह सकें ? देहली बिला शुबहा वह मुक़ाम है जिसका हर दर व दीवार सैर करनेवाले के वास्ते एक बड़ा पुरअसर सबक है, जिसके हर ख़त्ता (भवन) मीनार और हर ख़त्ता दर से मुल्कों की तारीख़ों का हाल खुलता है। जिसमें ऐसे भी लोग

गुजरे मिनका लिताय तूतिए हिन्द था। बतलाओ कि अब यहाँ ऐसा कौन शख्स बाकी है जिस पर हम फख़ कर सकें? आखिर जमाना में अमानत जौक़, मोमिन खाँ, और सब से आखिर में मिरजागालिब ऐसे कामिल शख्स थे जिनकी फ़ारसी, जिनकी उर्दू हम अपने हाथ में ले कर उस पर फ़ख़ कर सकते हैं। उनके मजामीन से अपने दिल को शाद और अपने अहबाब (प्रेमियों) को उनसे खुश कर सकते हैं, मगर वह जबान जिसके हम मुजिद थे अब चंद साल के बाद शायद बिल्कुल मर जायेगा। क्या आपको मालूम नहीं है कि आप के हमसाया में यानी अबला शुमाल व मगरिब में हमारे भाई क़ौम हिन्दू जो अगर दानिशमन्दी (बुद्धिमत्ता) से हिन्दुस्तान के आम फायदों पर ग़ौर करते तो कभी ऐसा खयाल न करते कि उन्होंने यह ख्वाहिश की है कि इस जबान को सरकारी दफ्तरों में से मिटा डालें। हमारी हमसाया कौम ने इस बात का कुछ खयाल नहीं किया कि आपस में लड़ कर क्या नतीजा हासिल करेंगे। मैं कहता हूँ कि अब यह कौम शायद हमारे साथ दस्त (हाथ से हाथ मिला) बस्ते चलना नहीं चाहती और जो बड़ी कोशिश उनकी तरफ़ से हो रहा है उसका नतीजा बिल्कुल यह होगा कि यह चन्द मुसलमान जो इस मुल्क में अब तक भी किसी न किसी दफ्तर में बतौर मुहर्रिर या इश्तहार नवीस के रोज़ी पाते हैं वह भी अपना रोजी से महरूम हो जावें। अब उन तारीखी वाक़आत के इज़हार की तरफ़ भी उन्होंने तवज्जह की है जो हिन्दुओं और मुसलमानों से मुतालिक है। वह रंग जाहिर किये जाते हैं जो किसी ज़माना में हमारे मूरिसों या बद अफ़आलियों (कार्यों) से हिन्दुओं को पहुँचे थे। मैं कहता हूँ कि इन पुराना बातों का मदफून (गड़ा) ही रहना बेहतर है बनिस्बत इसके कि वह जमाई जावें और दोनों क़ौमों के सामने पेश की जावें और वह वलवला पैदा किया जावे जिससे मुल्की खरा बियाँ पैदा हों। मेरा हरगिज़ यह मतलब नहीं है कि मैं हिन्दुओं की तरफ़ से मुसलमानों के दिलों में किसी तरह रंज को पैदा करूँ। हाशा

व कल्ला, (कदापि नहीं) मैं हमेशा दिल व जान से इस बात पर यक़ीन करने वाला हूँ कि जब तक मुसलमा व हिन्दू एक बिरादराना मुहब्बत से मुल्क की तरक्की में कोशिश न करेंगे उस वक्त तक हमारे मुल्क की पूरी तरक्की न होगी। गर हम कैसी ही तरक्की कर जावें मगर जब तक हिन्दू नाशाइस्ता (असभ्य) रहें जिसकी तादाद इस मुल्क में हमारी बनिस्बत बहुत ज्यादा है उस वक्त तक हमारा मुल्क अँधेरे में रहेगा। —त० अ०, १२६० हि, पृ० १९८।

स्वर्गीय सर सैयद अहमद खाँ बहादुर के सपूत आत्मज न्यायनिपुण स्वर्गीय मुहम्मद महमूद के इस कथन पर ध्यान देने से स्पष्ट अवगत हो जाता है कि डाक्टर 'नज़ीर' का उक्त कथन कितना सत्य एवं सटीक है। सैयद महमूद फातेह मुसल्मानों के कारनामों को उनके सामने रख कर जहाँ एक ओर उनमें अतीत का गर्व भरना चाहते हैं वहीं हिन्दुओं को यह सीख देते हैं कि हिन्दू अपने अतीत को भूल जाँय। उन हिन्दुओं को इतिहास को भुला देने की शिक्षा देना जो सदा से इतिहास में कच्चे रहे हैं और उन मुसलमानों को अतीत का अभिमान सिखाना जो सदा से अपने इतिहास के प्रशंसक रहे हैं और अपनी विजयों को पाषाण का कर देते रहे हैं 'बिरादराना मुहब्बत' तो नहीं और चाहे जो हो। हिन्दुओं को शाइस्ता करने और 'बिरादराना मुहब्बत' का पाठ पढ़ाने के लिए न्यायी सैयद महमूद जिस जबान का मरसिया पढ़ते हैं वस्तुत वह है क्या? वही न जिसे आप स्वयं 'फातेह मुसलमानों की ईजाद कहते हैं' और यह भी प्रकट कर देते हैं कि कुछ दिनों पहले वह 'कोई जबान न थी'? माना कि फातेह मुसलमानों की जबान न थी और न थी मफतूह मुसलमानों और हिन्दुओं की। पर इतना तो आपको भी मानना ही पड़ेगा कि उर्दू की ईजाद काल में भी खान आरजू जैसा प्रकांड पंडित ब्रजभाषा को ही श्रेष्ठ समझता था कुछ आपके पूर्वजों की कल की ईजादी उर्दू को नहीं। और आपके आदि उस्ताद हातिम भी तो किसी 'हिन्दवी' को, जिसे सब 'भाषा' कहते हैं, छोड़ कर ही किसी मिरजयानी को मुँह लगाते हैं और भाषा के क्षेत्र में भी फातेह मफतूह का भेद खड़ा कर देते हैं। सच तो यह है कि न्यायी महमूद का यह निर्णय ही पुकार कर कहता है कि वस्तुत किस लोक का भाषा है वह उर्दू

जिससे चन्द मुसलमान मुहर्रिरों और इजहारनवीसों का पेट पलता है। फिर भी यदि उर्दू को आज हिन्दू-मुसलिम-एकता का दीवट समझा जा रहा है तो इसका एकमात्र कारण है कि हिन्दू इतिहास में कच्चे होते हैं। चट, अपने अतीत को भूल जाते हैं। परन्तु अब तो सैयद महमूद तथा उनके पूर्वजों की कृपा से उनको याद रखना होगा कि—

ज़बान की कूवत शक्ति का बहुत क़वी (दृढ़) अक़्ल (इसके विपरीत यह भी है कि इब्तदाई तारीख से फातेहीन (विजयी) हमेशा मफ़तूहीन विजितों) की ज़बान यानी उनकी क़ौमियत व तमद्दन को बरबाद करना फ़ौजी इसतमाल (शक्ति) से दूसरे दरजा पर जानते हैं, क्योंकि इससे मिनजुमल दीगर फ़वायद के दो बहुत बड़े और उसूली फायदे हासिल होते हैं। एक तो यह कि फ़ातेहीन की ज़बान को जगह ले लेती है। दूसरे यह कि मफ़तूहीन की ज़बान या क़ौमियत बिल्कुल मुरदा हो जाती है। और अगर क़ुदरत इसमें किसी किस्म का बुख्ल (कंजूसी) करती है तो जदीद मसनूयी (बनावटी) तरीकों से इस तग़य्युर (परिवर्तन) ज़बान को निहायत हावी और पुरअसर बना दिया जाता है।

—रिसाला उर्दू, अंजुमन तरक़्क़ी उर्दू, सन् १६२२ ई०, पृ० ३००।

अब तो मौलवी नदीमुल हसन की साखी के सामने किसी को कुछ कहने का साहस ही नहीं रहा कि फ़तेह मुसलमानों ने उर्दू अथवा मुसलमान की ज़बान के लिये जो कुछ किया क्यों किया। उर्दू का जन्मकाल फातेह मुसलमानों की विपदा का काल है। जब तलवार ने साथ छोड़ दिया तब कलम ने अपना काम किया और झट उर्दू की ईजाद हुई। हिन्दी का फारसी वा तुर्कीकरण हो गया। फल यह निकला कि हिन्दी और हिन्दियत मारी गई। फिर जब उर्दू पर संकट दिखाई दिया तब 'हिन्दुस्तानी' की सूझी और उर्दू के खलीफा अल्लामा मौलवी अब्दुल हक़ उसकी ईजाद में लगे। उर्दू को सरल और सुबोध बनाने की जो योरी सी चिन्ता सर सैयद अहमद खाँ को हुई वह हिन्दी के दबाव के कारण। उसका एक प्रधान कारण था उसको सबकी भाषा बताना। अब हिन्दुस्तानी अड़चन

रने से इस बदली हुई जबान ने नए-नए बनावटी ढब से अपना सिक्का जमा लिया और हिन्दुस्तानी के सुघर नाम से नामी भी हो गई तब इसे फिर इसलाम की ज्ञी और मौलाना अबुलकलाम आज़ाद के हाथों में पड़ कर यह इस दबाव से क हो गई। उसका रंगढंग वा निस्तार यह है—

मौलाना अबुलकलाम आजाद ने जो तर्जे तहरीर (लिखने का ढंग) रायज की उसमें मुश्किल और ग़ैर मानूस अरबी फारसी अल्फ़ाज की भरमार थी। उर्दू में अंगरेजी अल्फाज इस्तैमाल करने के वह सख्त मुखालिफ़ थे। आम मुरव्वज: अल्फ़ाज़ को तर्क (त्याग) कर के उन्होंने ग्रास अरबी अल्फ़ाज़ इस्तैमाल करने की रसम डाली, मसलन 'लीडर' की जगह ज़ईम और वायरलेस की जगह 'लासिलकी'। 'अल हिलाल' 'अल-बिहाग' की आम सुर्खियाँ ही ऐसी होती रहीं जिन्हें थोड़ी बहुत अरबी जाने बग़ैर समझना मुश्किल था। मसलन मुजाकिरा इलमिया, शऊन इसला असयलता व अजोबतहा वग़ैरह। मौलाना अबुलकलाम 'आजाद' की इस तर्जे तहरीर को मौलाना जफर अली खाँ ने पंजाब में रायज किया और आहिस्ता आहिस्ता ऐसी उर्दू लिखने का फ़ैशन हो गया जिसे अरबीदाँ मुसलमानों के सिवा कोई नहीं समझ सकता था और उर्दू फ़क़त मुसलमानों की जबान हो कर रह गई।

—मौज कौसर, पृ० १६५।

'फ़क़त मुसलमानों की ज़बान होकर रह गई' में मुसलमानों का अर्थ क्या है इसे मुसलमान जानें। हमें कहना तो केवल इतना है कि यहाँ भी वही हुआ जो उर्दू के जन्मकाल में हुआ। अर्थात् 'भाषा' मारी गई और अरबी फारसी का बोलबाला हुआ और हुआ राष्ट्र के अभिमान मौलाना अबुल कलाम 'आज़ाद' की की कृपा से। फिर भी आज कोसा जा रहा है हिन्दी को। कारण विधि की विडंबना अथवा देश का दुर्भाग्य नहीं तो और क्या है।

हाँ, तो मुसलमान जिस रोजगार को लेकर हिन्दुस्थान में आया वस्तुतः वह तलवार का रोजगार था। फारसी को मिटते देख उसकी रक्षा का जो उपाय इस देश में रचा गया जब वह भी संकट में घिर गया तब उसे 'इस्लाम' की सूझी।

देखिए न, आज हदीस के इतिहास में हैदराबाद के नवाबी राज्य में लिखा जा रहा है—

उर्दू ज़बान हिन्दोस्तान में इक्बाले इसलाम (इसलाम के प्रताप) की यादगार है। इस लिये हर मुसलमान का फ़र्ज़ है कि उर्दू के खज़ाने को हर किस्म के जवाहरात से मालामाल करने की कोशिश करे।

—तारीख़ अलहदीस, तरक़्क़ी प्रेस, देहली, सन् १३५४ हि. पृ० १४।

'इसलाम' क्या है और उसका 'इकबाल' क्या है, इसकी चिन्ता चाहे जिस किसी को हो पर हिन्द के मुसलमान की दृष्टि में तो वह उर्दू ही रमा है। किन्तु अभी उस दिन की बात है कि स्वर्गीय सर सैयद अहमद खाँ बहादुर ने किसी से समझ कर कहा था —

मुसलमानों के हक में अब यह बात मुफ़ीद नहीं कि कोई काम उनके फ़ायदा और उनकी हालत के मुनासिब किया जाय। बल्कि तमाम उमूर (सब कार्य) उनकी हालत और फ़ायदा के बरख़िलाफ़ (प्रतिकूल) होने उनके हक में निहायत फ़ायदा बख़्शेंगे। हमारी राय यह है तमाम देहाती और तहसीली मक्तब (मदरसे) बिल्कुल हिन्दी और नागरी कर दिए जावें, तमाम अदालतों की ज़बान और ख़त बिल्कुल हिन्दी और नागरी कर दिया जावे, ताकि मुसलमानों की हालत ऐसी अबतर और ख़राब हो जावे कि उनकी तमाम चीज़ें और ज़रूरीयातें बिल्कुल नेस्त और नाबूद (नष्टभ्रष्ट) हो जावें और किसी किस्म का रोज़गार उनको मुयस्सर (प्राप्त) न हो।

—क़यदार, पृ० २६, सन् १८७२ ई०, मेडिकल प्रेस, बनारस।

'रोज़गार' का 'उर्दू' ज़बान और फारसी ख़त' से क्या लगाव है, इसे आप नहीं समझते पर एक मुसलमान बच्चा इसे खूब समझता है। 'तलवार' से कलम की काट कम नहीं होती। तलवार' से हिन्दू न कटा पर उर्दू ने उसे भोंथा ही दफ़ना दिया। जो हिन्दू हँसते हँसते राम का नाम लेता तलवार के घाट उतर गया पर कभी भूल कर भी इसलाम कबूल नहीं किया कि वही कलम की कृपा और उर्दू के प्रताप से अपने राम के लिये भी अपने आप ही तअल्लुक़ लिख दिया।

रुखसत हुआ वह बाप से लेकर खुदा का नाम।

हुआ इससे कुछ नहीं, पर रहा भी उससे कुछ नहीं। आप अपने आप ही मिट गए और मैदान उर्दू के हाथ रहा। और इसलाम ? उसकी कुछ न पूछिए, प्रश्न उसके 'इकबाल का, 'मुसलमान' के 'रोजगार' का है। 'दीन' या 'मजहब' का नहीं। 'खुदा' किस कुरान का शब्द है ?

उर्दू का रोजगार से जो सम्बन्ध है इसे आप किसी भी दफ्तर में जाकर देख सकते हैं। दफ्तर से उर्दू हटी कि जनता म उसका नाता टूटा। वह किसकी रही, इसे कौन कहे, पर वह आपकी नहीं रही, इसमें सन्देह क्या ? जो हो, उसकी स्थिति तो आज यह है—

क्या बलिहाज तदरीस (अध्ययन), और क्या बलिहाज तबाअत (छापे की दृष्टि से), उर्दू की असल दुश्वारी उसका फारसी रस्मेखत है जो खुद उसके वतन ईरान ने तबाअत के लिये तर्क कर (छोड़) दिया है। किता नजर (अपेक्षा) मुमालिक यूरप के, हैदराबाद दकन में भी नस्तालीक टाइप बनाने के लिये बड़ी जद्दोजहद (रगड़-झगड़) की गई लेकिन नतीजा खातिरख्वाह (संतोषप्रद) न निकला, जरीदाय हुकूमत सरकार आला मौवरिखा २३ शहरीवर सन् १३४९ फसली जिल्द (७१) नम्बर (३६) जुज्वो अव्वल स० १२६९ में मुहकमाय मुअ्तमदी उमूर आम्मा (सेग़ा तबाअत) का यह रिज़ोल्यूशन दर्ज है—

'सरकार आला को इस अम्र (कार्य) का अफसोस है कि तिजारती नुक्ताय नज़र (व्यापार की दृष्टि) से नस्तालीक टाइप कामयाब साबित नहीं हुआ।'

इसके बाद भी मौज़ूँ (उचित) और कामयाब नस्तालीक टाइप की तवक्का (आशा) करना नाआकबत अन्देशी (अदूरदर्शिता) होगी।

—उर्दू रस्मे ख़त, इन्तजामी मशीन प्रेस, हैदराबाद दकन सन् १६४० ई० पृ० ब, दीबाचा।

नव्वाब महदी यार जंगबहादुर जैसे उर्दू के दिग्गज की यह वाणी सफल हो और 'तिजारत' की दृष्टि से नस्तालीक टाइप चाहे जितना हानिप्रद हो, पर

उससे 'मुसलमान' का 'रोज़गार' तो चालू है न ? फिर चिन्ता किस बात की ! आप कहते हैं—

"मुरव्वजा (प्रचलित) रस्मे खत के मुताबिक़ (अनुसार) न सिर्फ हर्फों की शक्लें ही मुरक्कबात (संयुक्त अक्षरों) में कुछ से कुछ हो जाती हैं बल्कि उनको मुख्तलिफ निशस्तें (भिन्न भिन्न जोड़े), नव आमोज़ (नवसिखुआ) के लिये परेशानी, ज़हमत (संकट) और तज़ीअ वक्त (समय नष्ट) का बाइस (कारण) हैं। सालहासाल (वर्षों) की मश्क (अभ्यास) और आदत की वजह से हमको इस बात का एहसास (बोध) नहीं रहता कि किसी लफ्ज़ में किसी हर्फ की बिल्कुल बदली हुई शक्ल मुब्तदी (आरंभक) के लिये किस क़द्र दिक़्क़त तलब (कष्टप्रद) होती है। मसलन् लफ्ज़ बाद بعد को लीजिये। चाहे उर्दू दाँ मुब्तदी बे ب ऐन ع दाल د तीनों हर्फों की शक्लों और आवाज़ों से वाक़िफ़ (परिचित) हो मगर इस लफ्ज़ को नहीं पढ़ सकता अगर इमला (पद) लिखवाया जाय तो सही नहीं लिख सकता।—नहो।

सब सही, पर इतना तो आपको मानना ही होगा कि जब वह इसको जान लेगा तब इसको कितने दिनों में कितनों को बता कर अपनी रोज़ी चलायेगा। आप ही कहें, यदि बच्चा तुरत ही पढ़ लिख गया तो उर्दू के उस्ताद जी करेंगे क्या ? उनके 'रोज़गार' का भी तो कुछ ख्याल रखना होगा ? कहते हैं—

"मुरव्वजा (प्रचलित) रस्मे खत दर असल एक क़िस्म की दीदाज़ेब (नयनाभिराम) मुख्तसर नवीसी (लिपिलेख) है जिससे पूरी वाक़िफ़ियत के लिये हर्फों के पूरे जोड़ तोड़ और उनकी कुर्सियाँ जानना और उर्दू ज़बान पर पूरी तरह हावी होना जरूरी है। ऐसा पेचीदा रस्मे खत सीखने में ग़ैर ज़बानदाँ (भिन्न भाषा वालों) को क्या क्या मुश्किलें पेश न आती होंगी ! और अगर उसकी मादरी ज़बान (मातृभाषा) रस्मे खत मुक़ाबिलतन् आसान है तो उर्दू ज़बान के मुताल्लिक़ (सम्बन्ध में) क्या क्या जज़बात (भाव) ख्यालात (विचार) न होते होंगे ?

—वही, ज।

'होते होंगे' तो हों। आप उनकी चिन्ता में क्यों घुले जा रहे हैं? क्या उनमें कोई 'मुसलमान' भी है? भला वह 'मुसलमान' कैसा जिसकी मादरी जबान उर्दू न हो? सुनिए आप ही की भूमि का मरहठा अशरफत खाँ पुकार कर, नहीं नहीं तिलमिला कर किस से क्या कहता है और वह अपना अनुभव क्या सुनाता है। सुनिए कहते हैं—

जब मैं जिला बीड़ की अव्वल ताल्लुकदार यानी डिप्टी कमिश्नर था तो मेरा गुजर एक बहुत ही छोटे गाँव में हुआ। वहाँ आसामियों ो तलब करके उनके हालात दरयाफ्त किए गए तो एक मुसलमान भी ोटी बाँधे आया और अपना नाम अशरफत खाँ बताया। मैंने उससे र्दू में गुफ्तगू करनी चाही, मगर जब वह अच्छी तरह न समझ सका ो मराठी में बातचीत की जिसमें वह खूब फर्राटे उड़ाता था। और यह ेख कर मैंने पूछा कि आया वह अपने घर में भी मरहठी बोला करता ै। यह सुनते ही उसका चेहरा सुर्ख हो गया और कहने लगा— साहब! मैं मरहठी क्यों बोलने लगा? क्या मैं मुसलमान नहीं?' ऐसी ही हालत बरहमा में भी देखा कि गो मुसलमानों की मादरी जबान ब्रह्मी है लेकिन वह उर्दू को अपना कौमी और मजहबी जबान समझते हैं।

—खयालाते अजीज, जमाना प्रेस, कानपुर, पृ० १७१।

मौलवी मुहम्मद अजीज साहब की इस साखी को ध्यान से सुनें और इतना मान लें कि हिन्द के मुसलमान के सामने तो किसी तुलना का प्रश्न ही नहीं रहता। वह कभी यहाँ की किसी देशी लिपि की सोच हो नहीं सकता। रही हिन्दू की बात? सो तो जीता ही इसलिये है कि उससे 'मुसलमान' का 'रोजगार' चले। उसकी अपनी लिपि सरल, सुगम, सुबोध और साधु भले ही हो पर उसको तो सरकारी काम-काज के लिये उर्दू सीखनी ही होगी—होगी और पेट भरना ही होगा किसी उर्दू के लाल का। अन्यथा कौन सा अभागा ऐसा देश होगा जहाँ का शासक नागरी की उपेक्षा कर किसी बीहड़ 'नस्तालीक' के लिये पानी की तरह रुपया बहाता हो?

। नहीं, भूल की। मुहम्मद अमद मिर्जा के कहने में आ गया। आप हैदराबा में ट्रेनिंग कालेज के प्रधान हैं ~ रात दिन शिक्षा में लगे रहते हैं। निदान ता आकर लिख ही तो दिया—

हक़ीक़त यह है कि सालहासाल (वर्षों) की कोशिशों और पानी की तरह रुपया बहाने के बाद यह साबित हो चुका है कि नस्तालीक रस्मे ख़त अरज़ाँ (महँगा) और कार आमद (उपयोगी) टाइप के लिये कितअन् (सर्वथा) ग़ैरमौज़ूँ (अनुपयुक्त) है। हत्ता कि नस्तालीक के वतन ईरान ने तबाअत के लिये नस्तालीक तर्क करके नस्ख़ का टाइप एख़्तयार कर लिया है। —रस्मे ख़त पृ० १८।

निवेदन है, यहीं तो आप भूल कर रहे हैं। इतिहास इस बात का साक्षी कि जो ईरान गुलाम से बादशाह बन गया तो उसने नस्ख़ को अपना लिया पर बेचारी नस्तालीक सी छबीली से क्या अपराध हो गया है कि आप तूरानी नव्वाब को उसके लिये इस गुलाम देश में पानी सा रुपया नहीं बहाने देते ? आखिर वह रुपया पत्थर की तरह जम कर क्या करेगा ? हिन्दू के यहाँ से आया और इस प्रकार काम में तो आया मुसलमान के ही ? फिर मुसलमान का 'रोज़गार' ऐसे ही क्यों नहीं चलने देते ? कैसे मिर्ज़ा हो जो हैदराबाद के नव्वाबी शासन में रहते हुए भी ऐसी भूल की बात कर रहे हो ? कहते हो —

रस्मे ख़त दर असल ज़बान का लिबास है। इसलिये उर्दू का भी एक मौज़ूँ कार-आमद (उपयोगी) ख़ुशवजा (सुभग) लिबास उसके माज़ी (भूत), हाल (वर्तमान) और मुस्तक़बल (भविष्य) की मुनासिबत से उसके शायाने शान (शान के अनुकूल) होना चाहिए।
—उर्दू रस्मे ख़त, पृ० २३।

ठीक कहा। बिना भूत, वर्तमान और भविष्य का लेखा लिये काम सरता नहीं। उर्दू की यही तो बड़ी बात है कि वह अपने आगे किसी की सुनती ही नहीं। परन्तु आपने उसके सुधार का जो बीड़ा उठाया है उसको देखकर इतना तो स्पष्ट होता है कि उर्दू अब इस क्षेत्र में कुछ करना चाहती है और क्यों न करे ? ख़तरे की घंटी भी तो चारों ओर से बज चुकी है। आप सच कहते हैं कि—

"पेशकरदा मवाद (प्रस्तुत सामग्री, से साबित होता है कि उर्दू के लिये कोई ऐसे रस्मे खत की जरूरत है जो मेकानी मतालबात (यंत्र की आवश्यकताओं को) पूरा करे वरना मुरव्वजा खत (प्रचलित लिपि) के इस्तेमाल से पसपस्त (पीछे) रहने या खुद इस खत ही के बिल्कुल नेस्त-वो नाबूद (नष्ट-भ्रष्ट) होने का क़वी अन्देशा (दृढ़ आशंका) है। तुर्की के अतातुर्क की क़यादत (नेतृत्व) में और तुर्किस्तान ने रूसी हुकूमत के असर से अपने अपने खतों को तर्क करके रोमन खत कबूल कर लिया है। उन्होंने खसूसन् तुर्की ने यह महज यूरप की अन्धी तक़लीद (अनुकृति) में नहीं किया जैसा कि हिन्दोस्तान में बाज (कुछ) का खयाल है। उन्होंने यह देखा कि नस्ख भी जिसका इन्टर टाइप बन गया था और अब तो उसका भी लीनो टाइप और मोनो टाइप तैयार हो गया है, जोड़ों की कसरत के सबब से रोमन खत का मुकाबिला नहीं कर-सकता। खते नस्ख में मेकानी ज़रूरियात की खातिर बहुत कुछ किता व बुरीद (तोड़फोड़) करने के बाद भी हर्फ और उनके जोड़ों की तादाद दो सौ से ज़्यादा है। याने रोमन के मुक़ाबला में तकरीबन् दो गुनी है।

—उर्दू रस्मे खत, पृ० २२।

अब बात अपने सच्चे रूप में सामने आ गई। कौन नहीं जानता कि अंगरेजों ने किस प्रकार फारसी को सरकार से देश निकाला दे दिया। और यह भी किससे छिपा है कि जहाँ-तहाँ सरकार में उर्दू लिखी भी जा रही है रोमन लिपि में। फिर रोमन लिपि के इस मधुर विधान से सजग होना अपने आपको खो देना ही तो है ? निदान हैदराबाद में उर्दू-जीवन की रक्षा के लिये सरकारी रुपया पानी की तरह बहाया जाता है और इस प्रकार के भाँति-भाँति के प्रयोग किए जा रहे हैं। वस्तुतः प्रश्न उर्दू के द्वारा सरल शिक्षा का नहीं किसी शोध के द्वारा उर्दू की रक्षा का है।

अच्छा, तो आज उर्दू की स्थिति है क्या और कल वह थी क्या ? सुनिए, यही मिर्जा साहब फरमाते हैं—

जब हिन्दोस्तान में उर्दू की दागबेल (नींव) पड़ी तो इब्तदा (आरम्भ) में उसे नागरी में लिखा जाता था, लेकिन जब उसने जबान की हैसियत एख्तयार करनी शुरू कर दी तो फ़ारसीदाँ उसको फ़ारसी खत में लिखने लगे। अँगरेजों का दौर दौरा शुरू हुआ तो यही उर्दू रोमन खत में लिखी जाने लगी। मुख्तसरन् यह कि हिन्दोस्तान की यह मुश्तरका ज़बान (सम्मिली भाषा) जिस तरह एक से जायद नामों से मौसूम है, यानी कोई उसको 'उर्दू' कोई 'हिन्दी' और कोई 'हिन्दोस्तानी' कहता है, उसी तरह उसके रस्मे खत भी नागरी, फारसी और रोमन है।

—उर्दू रस्मे खत पृ० १३।

'नागरी' अभी तक इस देश में जीवित है और कभी उर्दू उसी में लिखी जाती थी इसका पता बस सारी पुस्तक में यहीं चलता है, नहीं तो और कहीं उसका नाम भी नहीं। और हो भी क्यों ? जब फारसीदाँ उर्दू को फारसी लिपि में लिखने लगे और यही फारसीवाली उर्दू सबकी 'मुश्तरका ज़बान' बन गई तब किसी 'नागरी' का किसी को काम क्या ? हाँ कठिनाई तो यह आ पड़ी कि आज अँगरेजोंदाँ उसे रोमन खत में भी लिखने लगे और फलतः नागरी की तरह फारसी खत को भी 'चलहट' का परवाना मिला। पर वह जाये तो कहाँ जाये। उसका यहाँ तो कोई घर है नहीं और बाहर भी आज उसकी पूछ नहीं। निदान दक्षिण में 'निज़ाम' के घर हो रही है। और हैदराबाद ही उसका घर बना है। वहीं उसके जीवन की चिन्ता हो रही है। और, और कुछ नहीं तो उसका रोजगार तो नित्य खूब चलता है ? मुसलमान का आज भी तो उससे पेट पलता है। फिर उसकी रक्षा के लिये जो कुछ बन पड़े क्यों न किया जाय ? रही नागरी। सो उससे मुसलमान का कोई नाता नहीं। क्या कहा ! उसकी वर्णमाला अद्भुत है। विश्व उसकी भूरि भूरि प्रशंसा कर रहा है और रोमन लिपि के लिये भी उसीको अपनाना ठीक समझता है ? समझा करे। इस विश्व से 'मुसलमान' को क्या लेना देना है ? इसमें उसका रोजगार कहाँ है ? और कहाँ है इसमें उसकी वह निशानी जिसे 'शान' कहते ?

'शान' की बात तो हम नहीं करते परन्तु इतना जानते अवश्य हैं कि एक दिन वह भी था कि 'मुसलमान' अभी इस देश का विधाता नहीं बना था और इसलाम

अपनी उठान पर चारों ओर फलफूल रहा था कि किसी 'खलील' को इस वर्णमाला की सूझी। उसने जो कुछ किया उसका लोप हो गया पर चर्चा उसकी आज भी बनी रही। उसके विषय में हम क्या जानें ? तो भी कहना तो हमें यह है—

किताब की तरतीब (क्रम) मखारिज (उच्चारण) के लिहाज से है। और यह अरबी में एक खास जिद्दत (नवीनता) है। अरबी में हुरूफ अबजद रायज थी! (इन दोनों तरतीबों में फ़र्क है। लेकिन फिहरिस्तसाज़ और तारीखनिगार (इतिहास कार) उसको मलहूज़ (स्फुट) नहीं रखते। इसलिये यहाँ दोनों का एक समझना चाहिए)। मखारिज की तरतीब 'हिन्दोस्तान' का एखितराय (उपज) था। विलियम्ज़ (Monier Williams) ने अपनी 'संस्कृत' ग्रामर में लिखा है कि हिन्दू 'संस्कृत' के हुरूफ़ हलक़ (कंठ) से शुरू करते हैं और होंट पर खतम करते हैं। 'खलील' ने भी यही तरीका एखतियार किया। उसने पहले हलक़, फिर ज़बान, फिर दाँत, फिर होंठ के हुरूफ़ लिये हैं, और हुरूफ इल्लत (वाव, इये, अलिफ़) को आखिर में रक्खा है। क्योंकि वह हुरूफ़ हवाई हैं। यह तमाम तफ़सील बाद की उन किताबों से मालूम होती है जो 'किताबुल ऐन' के बाद इसी तरतीब से लिखी गई और आज मौजूद हैं।

—रुपदाद इदारा मारिफ इस्लामिया लाहौर, इजलास दयजलास अव्वल, सन् १९३३ ई०, पृ० ३०४–३०५।

ध्यान देने की बात है कि 'खलील' का निधन-काल सन् १७० हि० के आस-पास माना जाता है, और यह वह समय है जब इस्लाम अपनी उठान पर था, और भारत के एक छोर सिन्ध से भी उसका नाता जुड़ गया था। यह इसी जादू का परिणाम है कि अरबी की वर्णमाला अपनी कुक्रमता के कारण नागरी वर्णमाला के सामने सर झुकाती और अपने आपको उसी क्रम पर चलाना चाहती है और एक आज का दिन है कि इसी देश की उर्दू इसका नाम तक नहीं लेती और चारों ओर अपने को कहती फिरती है 'मुल्की', 'मुश्तरका' और मज़हबी! कहाँ का मुल्क और कहाँ का मज़हब ? और 'मुश्तरका' का तो नाम भी न लीजिए। सभी कुछ तो 'मुसलमान'

में समा गया। और मुसलमान के 'रोज़गार' ने तो सभी को बीन कर साफ कर दिया। हुआ, सब कुछ हुआ, पर आज भी नागरी का नाम उजागर है। आज भी उसकी वर्णमाला को देखकर यूरप तड़प उठता है और अपने आपको, अपने विज्ञान को और अपनी वर्णमाला को धिक्कारता है, फटकारता है, कोसता है, परन्तु अन्त में रूढ़ि के सामने सर झुकाकर रह जाता है। साहस इतना भी नहीं करता कि इस अलौकिक और अद्भुत, वर्णमाला को अपना तो ले। सबकी क्या कहें? पर डाक्टर मेकडानल्ड को तो सुन लीजिए। उसकी विद्वत्ता की धाक विश्व में जम चुकी है। वह कितने विषाद के साथ कहता है कि नागरी के सामने रोमन के गड़बड़झाने में पड़ा रहना प्रमाद है। सुनिए—

Thus the dental consonants appear together as t, th, d dh, n and libials as p, ph, b, bh, m We Europeans on the other hand, 2500 years later, and in a scientific age, still *employ an alphabet which is not only inadequate to represent* all the sounds of our languages but even preserves the random order in which vowels and consonants are jumbled up as they were in Greek adaption of the primitive semitic arrangement 3000 years ago

—A. H. of Sanskrit Literature. P. 17.

इस प्रकार की भी किसी को सुधि है? हो भी कैसे? उधर तो सर सैयद अहमद खाँ बहादुर की स्पष्ट घोषणा है कि मुसलमान बच्चा नागरी सीख नहीं सकता। आप किस शान से कह जाते हैं—

मैं सुनता हूँ कि सूबा बिहार में नागरी जारी होने वाली है। पस क्या आप अपने लड़कों को नागरी पढ़ने भेजेंगे या मैं अपने लड़कों को नागरी पढ़ने भेजूँगा? हरगिज नहीं।

—तहज़ीबुल अखलाक १२९० हि० १५ रबी उस्सानी, पृ० २८।

बड़ी सही, परन्तु इतना तो विश्वास रखना होगा कि 'हिन्द' में रहकर यह 'हिन्दी' का विरोध अधिक दिन तक नहीं चल सकता और नहीं चल सकता आपके

मुसलमान का यह रोजगार भी। दुःख तो यह देखकर होता है कि हमारे देश के अलामा चेतते भी हैं तो उलटा यह प्रस्ताव करते हैं—

हम आप लोगों को दावत देते हैं कि वह अपनी मादरी जबानें अँगरेज़ी हुरुफ़ में लिखना-पढ़ना शुरुअ कर दें। और अपने खानदान के किसी फर्द (व्यक्ति) को आम इससे कि औरत हो या मर्द, ऐसा न छोड़ें कि वह अपनी ज़बान यूरपियन हुरुफ़ में न लिख सकता हो। इसके बाद उसको तुर्कों की तरह ज़िंदगी बसर करना सिखाना चाहिए। तुर्कों में भी इसी तरह बेइमान आदमी मौजूद हैं जैसे हमारे यहाँ हैं, मगर तुर्की कौम के इमान में जिसे सुबहा हो सकता है वह अहमक (मूढ़) है। अब तुर्कों ने अपना कौमी तरीका यूरपियन इल्म बना लिया है। हम इस मुसलिम कौम के तरक्क़ीयाफ्ता (उन्नत) नमूने पर अपनी कौम को तैयार करना चाहते हैं। इन हकायक (तथ्यों) से हमारे बड़े बड़े आलिम नावाकिफ (अनभिज्ञ) हैं। उनको वाकिफ करने की अशद (अत्यन्त) जरूरत है। हम चाहते हैं कि निहायत नरम जबान में उनको यह चीजें समझा दी जाय। मगर हमारी कौम में एक जिद्दी अनसर (हठधर्मी) मौजूद है। वह मुसलमानों की हर तबाही को कबूल कर सकता है मगर अपने तर्ज में तबदीली का रवादार (पक्षपाती) नहीं बनता। हम उन्हें मुंह नहीं लगाते। और जब मौका मिलेगा हम उन्हें खत्म कर देंगे। यह मैं अपनी जेहनियत (भावना) की तरजमानी (अगवानी) नहीं कर रहा। मुझे मालूम है कि हिन्दोस्तान में इनकलाब आयेगा। मैं इस इनकलाबी जमाअत (विप्लवीदल) की तरजमानी कर रहा हूँ। मैंने रूस में और टर्की में इनक़लाबी जमाअतों का काफी तजरबा किया है। वह सब के सब एक ही मसलक (मार्ग) पर चल रहे हैं। उनकी जबानें मुख्तलिफ हैं, उनके मजाहिब मुख्तलिफ हैं, मगर मासिरत (व्यवहार) का तरीका सब में मुश्तरक है।
—शाह वली उल्लाह और उनकी सियासी तहरीक, किताबखाना पंजाब लाहौर, सन् १९४२ ई०, पृ० ८०।

हज़रत मौलाना उबैद उल्लाह सिन्धी को इतने से ही सन्तोष नहीं होता। नहीं, उनको तो इसकी और भी व्याख्या करनी पड़ती है। कहते हैं—

मगर यूरप के तरीक़े पर काश्तकारों को आलिम (अभिज्ञ) बनाया जा सकता है। सबसे पहले उन्हें अपनी मादरी ज़बान में लिखना-पढ़ना सीखना चाहिए। इसमें लिये हमारा अरबी रस्मुलख़त एक माना रुकी (भारी रुकावट) है कि एक ऐसे इंसान को जो चौबीस घंटे काम में मसरूफ़ (लगा) रहता है उसको यह ख़त सिखाना जो एक हर्फ़ की कई शक्लें पेश करता है। सीखने सिखाने वाले दोनों के लिये बेहद दुशवार (अत्यन्त कठिन है) हैं। रोमन हुरूफ़ जो अलहदा लिखे जाते हैं एक दफ़ा हर्फ़शनासी (अक्षर-पहिचान) के याद सारी उमर के लिये इंसान फ़ारिग़ (मुक्त) हो जाता है। टाइप-राइटर मशीन के तवस्सुत (प्रसाद) से हाथ से लिखने की ज़रूरत नहीं है। हम मसजिदों में टाइप राइटर मशीन रख कर अपने बच्चों को चन्द घंटों में अपनी मादरी ज़बान लिखना पढ़ना सिखा सकते हैं। सिपाही बनने के लिये इतनी ही तालीम ज़रूरी है। —वही, पृ० ८१।

सब सही, पर इस सिपाही योजना का कुछ इस्लाम तथा हिन्दुस्तान से भी कभी का कोई नाता है या नहीं? माना कि तुर्कों ने अपना वेश बदल कर कमाल किया। परन्तु क्या कभी उन्होंने अपने कुर्आन को भी तलाक दिया? और तो और, क्या उन्होंने रोमन लिपि को भी उसी रूप में अपना लिया जिस रूप में उसे आप अपने देश को सिखाना चाहते हैं? नहीं, उन्होंने केवल रोमी संकेत लिया पर वर्ण अपने यहाँ का ही रखा। आपको इसका तो पता अवश्य है कि हमारे हिन्दी सिपाही भी पलटन में रोमन ही सीखते हैं क्योंकि उनको नागरी की शिक्षा दी ही नहीं जाती, पर आप इतना नहीं जानते कि 'रोमन लिपि' में लिखना-पढ़ना कितना 'दुशवार' होता है। आप अकबर को रोमन लिपि में लिखें और कहें कि हम उसे 'आकबर' या जो चाहें सो क्यों न पढ़ें! कृपानिधान! जैसे आपने इतनी कृपा की वैसे ही इतनी कृपा और करें कि 'मादरी ज़बान' के साथ 'मादरी ख़त'

को भी बहाल रक्खें। आखिर 'खुत' से क्या खता हुई है कि आप उसे तलाक दे रहे हैं? नहीं, ऐसा कदापि न करें। फिर चाहे मसजिद में बैठ कर जो पढ़ाएँ उससे किसी का कोई विरोध नहीं। पर 'खुदा के घर' में अल्लाह के नाम पर ऐसा अन्याय न करें। यही इसलाम का विधान है। कारण कि धर्म किसी को मिटाता नहीं अपितु सबको बनाता ही है। हाँ अपने धर्म को आप जानें। हमने तो मानव धर्म की बात कही है।

मुसलमान का इक़बाल

इसलाम के उदय के साथ अरब से जो जिहाद की आँधी उठी, वह धीरे धीरे मन्द पड़ती गई और अन्त में हिन्द के लहरीले महासागर में आकर शान्त हो गई और फिर किसी की राह पाकर जगी भी तो ऐसे झाके के साथ कि—

मुसलमानों के इक़बाल का सितारा ग़ुरूब (अस्त) हो गया। मुसलमानों की नई तारीख़ बनते-बनते रह गई। हुकूमत शरई (वैधानिक, इसलामी) सैकड़ों बरस के लिए एक ख़्वाब बेताबीर (निष्फल) हो हो गई। शरा (शास्त्र) व दीन का जलाल (ऐश्वर्य) और उसका तख़्त व ताज लुट गया और हिन्दुस्तान की आज़ादी सदियों के लिए पिछड़ गई। बालाकोट की ज़मीन चन्द मज़हबी दीवानों ही का मक़्तल (वधस्थल) नहीं, बल्कि बहुत-से सयासी (राजनीतिक) हाशमन्दों की भी इबरतगाह (शिक्षापीठ) है और सारे हिन्दुस्तान के यकसाँ एहतराम की (सत्कार) मुस्तहक़ (अधिकारी) है। आज भी वहाँ की वादी हिन्दुस्तान को पैग़ाम सुनाती है—

सौदा ! किमार (जूआ) इश्क में शीरीं से कोहकन (फ़रहाद)
बाजी अगरचे ले न सका सर तो खो सका।
किस मुँह से अपने-आपको कहता है इश्कबाज,
ऐ रू सियाह (कालामुँह) मुझसे तो यह भी न हो सका।
—सीरत सैयद अहमदशहीद, रामी प्रेस, लखनऊ; पृ० १९७।

आखिर बालाकोट में हुआ क्या कि मुसलमानों के इकबाल का सितारा डूब गया और हिन्दुस्तान की आजादी सदियों कोसों दूर भाग गई। 'सीरत सैयद अहमद शहीद' के लेखक मौलवी सैयद अबुलहसनअली नदवी साहब फरमाते हैं—

कायदीन ने लश्कर को तरतीब दी। मुजाहिदीन (जिहादियों) अपनी जानें हथेलियों पर रखकर लड़े। शाह इसमाइल साहब की हालत ही दूसरी थी। बरसों के अरमान निकलने का वक्त आया था। आपने अपनी मरदानगी, खारिक (प्रतिकूल) आदत, शुजाअत और हरारत ईमानी के आखिरी जौहर दिखाए और आखिर अपना सर देकर वह बोझ उतार दिया जो आपको उस वक्त से बोझ मालूम हो रहा था जबसे कि आपने जिहाद व शहादत के फ़जायल (माहात्म्य) पढ़े थे और इसकी जरूरत महसूस की थी। उस वक्त किसी को अपने सर पैर का होश न था। करबला की घड़ी नाजिल (उतरी) थी। इसी हालत में लोगों ने देखा कि सैयद साहब नहीं हैं। —वही, पृ० १९६-७।

'सैयद साहब' नहीं हैं।' क्यों नहीं हैं? 'जमालो दूर रही' को चरितार्थ करने के लिए? नहीं, सैयद साहब तो इस लोक से उबकर किसी परलोक में जिहादी ढूढ़ने गए अथवा फरिश्तों से यह काम कराने की ताक में हैं। पर कहते हैं—

जंग के बाद मैदान की हालत निहायत पुरअसर थी। सारा मैदान गरीबुल वतन (आश्चर्यहीन) शुहदाय की (शहीदी) लाशों से पटा पड़ा था। सिक्खों ने (मशहूर रिवायत के मुताबिक) हजरत 'सैयद साहब और जनाब 'शाह साहब' के जसद (शव) मुबारक को शिनाख्त (पहिचान) कराकर निहायत एहतिराम (गौरव) से इसलामी तरीक़ा पर दफ़न करा दिया। —वही, पृ० १९७-८।

सिक्ख कहाँ से आ गए और क्यों उन्होंने 'हज़रत सैयद साहब' और 'जनाब शाह साहब के शव को निहायत एहतिराम' से 'इसलामी तरीका पर दफ्न करा दिया, यह भी तो एक विचारणीय प्रश्न है। लीजिए, इसका भी समाधान सामने है—

(१) या तो इसलाम कबूल करो। उस वक्त हमारे भाई और मुसावी (तुल्य) हो जाओगे। लेकिन इसमें कोई जबर नहीं। (२) हमारी इताअत (अधीनता) एख़्तयार करके जज़िया देना कबूल करो। उस वक्त हम अपनी जान व माल की तरह तुम्हारी जान व माल की हिफाज़त करेंगे। (३) आख़िरी बात यह है कि अगर तुमको दोनों बातें मंजूर नहीं हैं; तो लड़ने के लिये तैयार हो। मगर याद रखो कि सारा यागिस्तान और मुल्क हिन्दुस्तान हमारे साथ है और तुमको शराब की मुहब्बत उतनी न होगी, जितनी कि हमको शहादत की है।

—वही, पृ० १४४।

अच्छा, तो यह है 'हज़रत का एलान और यह है सिक्खों का बर्ताव ! कैसी प्रभु की प्रभुता है कि 'वाह गुरूजी फतह' ने जिहाद को चूर कर दिया और जिहादी खेत रहे। जिहाद के गिर जाने से मुसलमानों का सितारा डूब गया, कोई बात नहीं, पर इसलाम पर आँच तो नहीं आई। समझने में नहीं आता कि इस घटना के कारण 'हिन्दुस्तान की आज़ादी सदियों के लिए पिछड़' कैसे गई ? क्या सिक्ख विलायत से आकर राज्य कर रहे थे और पठान घर के बाबू थे ? सैयद अहमद के जिहाद के मूल में चाहे जो रहा हो, पर इस 'हिन्दुतान' की आज़ादी के मूल में तो मुसल्मानी शासन ही बोल रहा है। दूर जाने से लाभ नहीं, स्वयं हजरत सैयद साहब के एलान पर विचार कीजिए। कहीं से तनिक भी इस बात की गन्ध मिलती है कि सिक्ख इसलाम पर अत्याचार करना छोड़ दें, अन्यथा उनके प्रतिकूल हथियार उठाना पड़ेगा। उनकी स्पष्ट घोषणा तो यह है कि (१) इसलाम कबूल करो, (२) अथवा जज़िया दो, (३) अथवा लोहा लो। अब यही यदि सच्चा इसलाम है, तो विवश होकर मानना पड़ेगा कि इसलाम के साथ किसी की समता चल नहीं सकती। इसलामेतर जाति के लिए केवल दो ही मार्ग हैं—मारो, मरो

जजिया दो। अब जिसमें थोड़ा भी आत्माभिमान होगा और जिसका धर्म सर्वथा गेव न हो गया, वह अवश्य लोहा लेगा और एक बार इस इसलाम को भी नश्य दिखा देगा कि अल्लाह के नाम पर मरना किसे कहते हैं और मुल्क की ाजादी क्या है। बस, रणजीतसिंह ने यही किया और हजरत को बता दिया कि न पर मरना किसे कहते हैं और दुनिया से उलझना क्या बला है। फलत: सिक्ख जयी रहे और जिहादी डूब गए। अल्लाह ने 'हक' का साथ दिया, 'जिहाद' नहीं। - —

सैयद अहमद के शहीद होने अथवा किसी दिन के लिए गायब हो जाने से मुसनों का इकबाल डूब गया, यह कुछ पहेली सा प्रतीत होता है, किन्तु वस्तु स्थिति ऐसी ही। बात यह है कि—

तेरहवीं सदी में जब एक तरफ हिन्दुस्तान में मुसलमानों की सयासी ाकत फना (लुप्त) हो रही थी और दूसरी तरफ उनमें मुशरिकाना देवपरक) रसूम और विदआत (नवीनता) का ज़ोर था मौलाना समाइल शहीद और हज़रत सैयद अहमद बरेलवी की मुजाहिदाना कोशिशों ने तजदीद (नूतनता) दीन की नई तहरीक (आन्दोलन) शुरू ी। यह वह वक्त था जब सारे पञ्जाब पर सिक्खों का और बाकी हिंदुनान पर अंगरेजों का कब्जा था। इन दो बु.जुर्गों ने अपनी बुलन्द हिम्मती से इसलाम का अलम झंडा उठाया और मुसलमानों को जिहाद की दावत दी, जिसकी आवाज हिमालय की चोटियों और नैपाल की तराइयों से लेकर खलीज (खाड़ी) बंगाल के किनारे तक यकसा फैल गई और लोग जौक.जौक (यूथ के यूथ) इस अलम के नीचे जमा होने लगे। इस मजदाना (महान्) कारनामा की आम तारीख लोगों को यहीं तक मालूम है कि इन मुजहिन्दों ने सरहद पार होकर सिक्खों से मुकाबिला किया और शहीद हुए हालाँ कि यह वाकया उसकी पूरी तारीख का सिर्फ एक बाब अध्याय है। —वही, पृ० १३।

अल्लामा सैयद सुलैमान नदवी ने जिस 'तहरीक' का उल्लेख किया है, उसका

सच्चा उद्देश्य था फिर से हिन्दुस्तान पर राज करना। यही कारण है कि इसकी नाकामयाबी से 'मुसलमानों के इक़बाल का सितारा गरूब हो गया' और हिन्दुस्तान की आज़ादी सदियों लिए पिछड़ गई।' यदि यह सीधी सी बात जी में नहीं बैठती हो, तो कान खोल कर सुनें। कोई पुकार कर कहता है—

हिन्दुस्तानी मुजाहिद इसलिए निकले थे कि शाह अब्दुल अज़ीज़ का एक फैसला पूरा करें। जैसे इमाम वली अल्लाह ने मरहठों के ख़िलाफ़ अफ़गानों को बुलाया, उसी तरह इमाम अब्दुल अज़ीज़ सिक्खों के ख़िलाफ़ अफ़गानों को बुलाना चाहते थे। पंजाब की बाग़ी हुकूमत को ख़त्म करके काबुल और दिल्ली का इत्तसाल (सम्बन्ध) पैदा करना मुस्तक़बल की तरक्की के लिए एक ज़रूरी असास (आधार) था। इसी पर यह सारी तहरीक चल रही थी। इसका देहली और हिन्दुस्तान से ख़ुसूसी ताल्लुक़ था। लेहाज़ा सैयद साहब और मुजाहदीन को दिल्ली के मरकज़ (केन्द्र) के ताबा (अधीन) होकर काम करना चाहिए था। उनको रुपया और आदमी देहली से भेजे जाते हैं। याने सारा मक़सद (ध्येय) दिल्ली की आज़ादी को मुस्तहकम (दृढ़) बनाना था। मगर अब सैयद साहब ख़लीफ़ा कहलाने लगे। और सारी दुनिया के बड़े अमीर बन गए। याने अफ़गान सरदारों के लिए उनकी इताअत (अधीनता) मज़हबी फ़र्ज़ है तो बुख़ारा, तुर्की, दूसरे मुमालिक (प्रदेश) भी उनकी इताअत से सनकदोश (मुक्त भार) नहीं हो सकते। सनके लिए उनका तसलीम (स्वीकार) करना मज़हबी फरीज़ा (कर्तव्य) अमीर शहीद को है। इस तरह इमाम महदी के दरजे के क़रीब लाने की कोशिश की गई। इससे मरकज़ याने देहली की हुकूमत जाती रही। हमारे ख़याल में इस तमाम तग़य्युर (परिवर्तन) में कम्पनी बहादुर की डिप्लोमेटिक (भेद-भरी) चाल को बड़ा दख़ल है।

—शाह वली अल्लाह और उनकी सयासी तहरीक, क़िताबख़ाना पंजाब, लाहौर, पृ० १४८-९।

कम्पनी बहादुर की कूटनीति का कुछ पता सर सैयद अहमद ख़ाँ बहादुर के

उस लेख से लग जाता है, जो उन्होंने ८ दिसम्बर, १८७१ ई० के 'इस्टीच्यूट गजट' में डाक्टर हण्टर के उत्तर में लिखा था। आपका कहना है—

उस ज़माना में अला-अल्-अमूम (खुले रूप में) मुसलमान लोग अवाम (जनता) को सिक्खों पर जिहाद करने की हिदायत करते थे। हज़ारों मुसल्लह (सशस्त्र) मुसलमान और बेशुमार सामान जंग का ज़ख़ीरा (पुञ्ज) सिक्खों पर जिहाद करने के वास्ते जमा हो गया। मगर जब साहब मजिस्ट्रेट और साहब कमिश्नर को इसकी इत्तला हुई तो उन्होंने गवर्नमेंट को इत्तला दी। गवर्नमेंट ने साफ लिखा कि तुमको दस्तअन्दाज़ी (हस्तक्षेप) न करनी चाहिए। देहली के एक महाजन ने जिहादियों का रुपया गबन किया तो विलियम फ्रेज़र कमिश्नर देहली ने डिगरी दी, जो वसूल होकर सरहद भेजी गई।

—मुसलमानों का रोशन मुसतकबल, निज़ामी प्रेस, बदायूँ, सन् १९३८ ई०, पृ० ९४ पर अवतरित।

कहना न होगा कि कम्पनी सरकार की इस मधुर नीति का परिणाम यह हुआ कि—

इन आख़िरी सदियों हमको दुनियाय इसलाम की किसी ऐसी मज़हबी तहरीक का इल्म नहीं जो हिन्दुस्तान की इस तहरीक एहियाय सुन्नत और जिहाद से ज़्यादा मुनज़िम (व्यवस्थित) और वसीअ (व्यापक) हो और जिसके सयासी और मज़हबी असरात (प्रभाव) इतने हम.गीर (सयुक्त) और दूर रस (दीर्घव्यापी) हों। मशरिकी बंगाल से लेकर अफ़ग़ानिस्तान के हदूद तक लाखों मुसलमान इस तहरीक से वाबिस्ता (सम्बद्ध) थे। बंगाल के कमिश्नर-पुलिस की रिपोर्ट है कि इस जमअत के एक-एक मुबल्लिग़ (प्रचारक) पैरोंओं की तादाद अस्सी-अस्सी हज़ार है। सर विलियम हंटर अपनी किताब 'मुसलमानान हिन्द' में लिखता है—'सूबये मुर्शिदाबाद के एक अंगरेज़ कारखानादार नील का बयान है कि उसके दीनदार मुसलमान मुलाज़िम अपनी तनख़्वाह या

मजदूरी का एक जुज (अंश) सथाना कैम्प के लिए अलहदा करके रख लेते थे। जो लोग ज्यादा जरी (वीर) थे वह थोड़े बहुत जमाना के लिए सथाना जाकर खिदमत करते थे जिस तरह हिन्दू मुलाजिम अपने बुजुर्गों (पुरखों) के श्राद्ध के लिए छुट्टी माँगते थे उसी तरह मुसलमान मुलाजिम यह कह कर चन्द सप्ताह की रुखसत लेते थे कि उन्हें फरीजे जिहाद (युद्धधर्म) अदा करने के लिये मुजाहिदीन के साथ शरीक होना है।' हिन्दुस्तान की कोई इसलाही और इसलामी सयासी तहरीक नहीं, जो इस तहरीक से मुतासिर (प्रभावित) न हो, और हिंदुस्तान में मौजूदा इसलामी जिन्दगी मजहबी इसलाह मुसलमानों की सयासी बेदारी और मुल्क में मुसलमानों के वजूद की अहमियत और उनका सयासी वजन बड़ी हद तक इसी तवील (लम्बे) जिहाद का रहीन (बन्धक) मिन्नत (प्रसाद) है। —सीरत पृ० ३३-७।

कम्पनी-सरकार की कूटनीति को इसलिए कोसना तो ठीक नहीं कि उसकी चल रही और जिहाद की इसलामी कोशिश व्यर्थ हुई। अब तो स्वयं दीनपरस्त मजहबी मुसलमानों ने इसे प्रकट कर दिया है कि वस्तुतः इस जिहादी दुनिया का रहस्य क्या था और कहाँ इसका लक्ष्य साधा जा रहा था। फिर यदि कम्पनी सरकार ने अपनी कूटनीति से इस छिपी कूटनीति को दे मारा तो इसमें किसी का अपराध क्या ? आखिर जिहादी लोग भी तो जिहाद के द्वारा अपना खरई राज्य कायम करना चाहते थे और मुसलमानों की खोई हुई प्रतिष्ठा को फिर से स्थापित करना चाहते थे ! कभी शासन उनके हाथ में था। तब बादशाह जिहाद की तैयारी करता था। अब शासन हाथ में नहीं रहा, तो सैयद जिहाद की तैयारी कर रहा है। कर्त्ता कोई भी हो, कर्म तो वही है ! परिणाम की लालसा भी तो वही है ! फिर यह कूटनीति की पुकार कैसी ? जिहादी दिल्ली और काबुल को एक करना चाहते थे, अंगरेजों ने काबुल को दिल्ली के अधीन कर दिया। कहिए तो किसका महत्त्व बढ़ा—दिल्ली या काबुल का ? और यदि पठान जीत जाते तो दिल्ली पर किसका राज होता—शाह या पठान का ? जिहादियों ने अंगरेजों का भी तो सामना किया ! आखिर उन्होंने भरसक छोड़ किसे दिया ? भिड़े पर गिर गए, तो इसमें दोष किसका ?

अल्लामा सैयद सुलैमान नदवी सचेत करते और पछताते हुए दिल मसोस कर लिखते हैं—

पेशावर के पठान उमरा अगर वफ़ादारी से काम लेते, तो आज हिन्दुस्तान का नक़्शा ही दूसरा होता। —सीरत, पृ० १४।

क्या होता ? यही न कि हिन्दुस्तान पर पठान शासन होता। परन्तु यदि हिन्दुस्तानी चेत जाते, तो क्या होता ? क्या कभी यह भावना भी किसी सैयद के जी में उठी है ? हजरत मौलाना उबैदअल्लाह सिन्धी फ़रमाते हैं—

जब हम हिन्दुस्तान से निकले थे, तो इत्तहाद इसलाम के हामी थे—याने इण्टरनेशनल प्रोग्राम रखते थे। मगर जब हम वापस आए, तो उस वक्त ख़ालिस नेशनलिस्ट हैं। यह सबक हमें काबुल की ज़िन्दगी ने सिखाया है। —शाह वलीअल्लाह...तहरीक, पृ० १६६।

सो कैसे, तनिक इसे भी देख लें—

हमने यहाँ (मुफ़ाल. मज़कूरः में) हिजरत का ज़िक्र कसदन (जानबूझ कर) छोड़ दिया है। इसलिए कि हिन्दुस्तानी मुसलमान हिन्दुस्तान छोड़ ही नहीं सकता। यहाँ की अकसर आबादी हिन्दू से मुसलमान हुई है। उनके मुरशिद (गुरु) और उस्ताज़ (उस्ताद) बेशक बाहर से आए। और फिर बादशाहों ने यहाँ ऐसे ख़ानदान, जो हुकूमत करते रहे, छोड़े। मगर ऐसी हालत में कि अब उनके पास हुकूमत नहीं रही, यह तीनों (उस्ताज़, मुरशिद, ख़ानदाने शाही) फ़िरके ऐसे हैं, जो हिन्दू से मुसलमान नहीं हुए। हुक्मरान को (शासकों) अपना मुल्क छोड़े इतना ज़माना गुज़र चुका है कि उन्हें अपने वतन में कोई शख़्स नहीं पहचानता। एक सैयद अगर मक्का मुअज्जमा में जाए, तो आम हिन्दुस्तानी की तरह समझा जायगा। यही हाल अफ़ग़ानों का अफ़ग़ानिस्तान में और तुर्कों का तुर्किस्तान में है। हमारे सामने निहायत शरीफ़ अफ़ग़ान ख़ानदान से ताल्लुक रखनेवाले ताळीमयाफ़्ता (सुशिक्षित) नवजवान हिन्दुस्तानी काबुल में आए, ताकि अपनी क़ौमी हुकूमत की

तरक्की में मदद दें। मगर वह आम हिन्दुस्तानियों से ज़्यादा ज़लील (तुच्छ) होकर वापस आए। लेहाज़ा हम नहीं मानते कि कोई हिन्दुस्तानी हिन्दुस्तान से हिजरत (प्रस्थान) करने की इस्तेदाद (तत्परता) रखता है। इसलिए उनका फर्ज़ यही होगा कि दारुल हरब (युद्धभूमि) में रह कर इसको दारुल इसलाम (इसलाम क्षेत्र) बनाने की सई (कोशिश) करें। यह काम आसान नहीं है। इसके लिए उस्तादों की ज़रूरत है। और इमाम अब्दुल अज़ीज़ ने एक सिलसिला असातज़ह (उस्तादों) का तैयार कर दिया है, ताकि हर समझदार आदमी को काबिले इतमीनान (विश्वसनीय) तरीक़ से रास्ता बता सके।

—शाह वली...पृ० ९२-३।

इमाम अब्दुल अज़ीज़ का सम्प्रदाय किस ढब से काम करता है, इसका कुछ आभास इसी से हो जाता है कि—

इमाम अब्दुल अज़ीज़ की इस तरबियत (शिक्षा) की दूसरी बरक़त यह ज़ाहिर हुई कि हिन्दुस्तानी आला खानदानों के नाज़ व निअमत (लाड़ प्यार) से पले हुए नवजवानों का लश्कर सिन्द के रास्ते से क़न्दहार व काबुल होकर पेशावर के पहाड़ों और जंगलों में मरने को तैयार हो गया।

जैसे-तैसे इन जिहादी पट्ठों को सफलता मिली तो सैयद अहमद तो 'खलीफ़ा' हो गए, पर शेष को अपने विलास की सूझी। अफ़गानों के देश में भी वही करना चाहा, जो हिन्दुस्तान में करते आ रहे थे। परिणाम यह हुआ कि अफ़गानों ने इस मुसलिम-सरकार का एक रात में अन्त कर दिया और सिक्खों को खुल कर हाथ दिखाने का अवसर दिया। सो कैसे ? सुनिए—

मुहाजरिन अपने साथ अहल व अयाल (बालबच्चे) तो ले नहीं गए थे। जब अफ़गानी इलाके में मुस्तक़िल (स्थायी) तौर पर रहने लगे, तो उनका शादी-ब्याह अफ़ग़ानों में होता रहा। मगर अमीर शहीद के दवाये-खिलाफ़त की इशाअत (विस्तार) करनेवाले हिन्दुस्तानी अपनी

हाकिमाना कूवत दिखा कर बजबर (बरबस) अफगान लड़कियों से निकाह करने लगे । इस बारे में भी ज्यादा मुजरिम वही लोग हैं, जो ख़ब (सतरे) वलीअल्लाह के तरबियतयाफ्ता (सुशिक्षित) सिपाही न थे और अपने मजहबी जोश में अपने फ़िक्र के मुक़ाबिले में अमीर की इताअत (अधीनता) भी नहीं करते थे । —वही, पृ०, १६४ ।

सच तो यह है कि—

जिस दिन से अमीर शहीद अफ़गानों के अमीर बने, उसी वक्त से बग़ावत की चिनगारी इस इजतमाअ (संघ) में चमकती रही ।

—वही, पृ०, १६५ ।

साराश यह कि जिहादियों के पतन किंवा मुसलमानों के इकबाल के सितारे के गरूब होने का कारण अमीर शहीद का लाभ और उनके जिहादियों का काम था, कुछ अफ़गानों की नावफादारी नहीं । कोई भी सचेत जाति इस प्रकार का अपमान सह नहीं सकती । जब चिनगारी है, तब चमकेगी ही और जब चमकती है, तो कूड़ा करकट को साफ करेगी ही । अफ़गानों की आग ने यही किया । फिर तो अमीर शहीद की वही दशा हुई कि हम तो कमरी छोड़ दें, पर हमें कमरी छोड़े तब न ! अन्त में ऐसे घिरे कि कहीं हिजरत भी न कर सके और काफ़िर के हाथ काम आए । बालाकोट में सिक्ख-तलवार ने उनकी गति बना दी और फलत उनका सर उनके धड़ से अलग हो गया । जिहादी कहते हैं कि हजरत जीवित हैं, इतिहास कहता है कि सैयद मारे गए ।

हाँ, तो सैयद अहमद की इसलामी सलतनत के पतन का कारण हुआ उनके बन्दों का विलास । कहते हैं—

खान खटक की नवजवान लड़की थी । खान खटकने पैग़ाम (सदेश) पहुँचते ही इसी मजलिस में अपनी दोशीजा (कुमारी) लड़की को बुलाया और सरे-दरबार उसके सर से कपड़ा उतार दिया और कहा कि आज से तेरी कोई इज्जत नहीं रही । जब तक उस अफ़गान लड़की का इन्तक़ाम (प्रतिशोध) नहीं लिया जाता, तेरी इज्ज़त हेच महज़

(केवल तुच्छ) है। इसके बाद खान खटक की यह लड़की इस फ़ितना (उपद्रव) खात्मा तक हमवार (बराबर) नंगे सर रही है। रात को एक जमाअत इसके साथ जाती और एक गाँव में औरतों-मरदों को जमा करके पठानों में नंग (मर्यादा) अफ़ग़ान के मुताल्लिक़ लोगों को भड़काती, दूसरी रात दूसरे गाँव में जाती। इस तरह उसने तमाम अफ़ग़ानी इलाक़े में शोरिश (क्रान्ति) मुनज्जम (उत्पन्न) कर दी। इस पर एक मुअय्यन (निश्चित) रात में सब सरदारों को क़त्ल कर दिया गया और और हुकूमत का खात्मा हो गया। —पृ० १७०।

इस खूनी वाक़या के बाद सैयद साहब ने इरादा कर लिया कि इस बदनसीब सरज़मीन (भूभाग) से हिजरत कर ली जाय। जिस क़दर मुजाहिदीन मौजूद थे उनके रूबरू (सम्मुख) आपने तक़रीर करते हुए फ़रमाया कि मैं अब इस सरज़मीन को छोड़ना चाहता हूँ। नहीं बता सकता कि कहाँ जाऊँगा। मैं आपको रुखसत देता हूँ। आप मुझे रुखसत दें। मुजाहिदीन ने कहा कि हम सब आपके साथ हैं। इस पर आपने काश्मीर की जानिब कूच का हुक्म दिया। यह वाक़या माह रज्जब सन् १२४६ हि० का है। —शाह वली...पृ० १७१।

फिर तो सिक्ख सरदार वीर शेरसिंह ने जिस प्रकार बालाकोट में इनका नाश किया, वह इतिहास प्रसिद्ध बात है। उसके उल्लेख से यहाँ कोई लाभ नहीं। देखना तो हमें यह है कि मुसल्मानों के इकबाल का सितारा डूब गया, तो क्यों डूबा और फिर उसे चमकाने का क्या जतन हुआ? यह तो विदित ही है कि सैयद अहमद का यह जिहाद बहुत सोच-विचार कर ही किया गया था; किन्तु उनकी अदूरदर्शिता एवं उनके अनुयायियों की अज्ञता के कारण उनका विनाश हुआ। अन्यथा होता यह कि सिक्खों के पतन के साथ ही हिन्द का मार्ग मुसल्मानों के लिए खुल जाता और फिर हिन्दुस्तान में मुसलिम-साम्राज्य की स्थापना हो जाती। इस क्रान्ति की मूलभावना क्या थी, इसका भी थोड़ा पता हो जाय, तो अच्छा ही हो। लीजिए, वह भी कहा-कहाया आपके सामने है। देखिए—

इमाम अब्दुल अज़ीज़ ने सैयद अहमद शहीद के बोर्ड को पहली दफ़ा सन् १२३१ हि० में बईत (दीक्षा) तरीक़त लेने के लिए और दूसरी दफ़ा १२३६ में बईत जिहाद लेने के लिए दौरा पर भेजा। इसके बाद सारे .काफ़िला समेत हज्ज पर जाने का हुक्म दिया, ताकि उनकी तन्ज़ीमी (संघटित) .कूवत का तजरबा हो जाए। जब .कफ़िला हज्ज से सन् १२३९ में वापस आया, तो इमाम अब्दुल अज़ीज़ .फौत (मृत) हो चुके थे। उन्होंने अपने आखिरी वक्त में मौलाना मुहम्मद इसहाक़ को मदरसा सुपुर्द करके अपना .कायम मुक़ाम (उत्तराधिकारी) बना दिया था। —शाह वली.. पृ० १५३।

'कायम मुक़ाम' से सचालन का सूत्र टूट गया और फिर तो प्रमुख में आने पर सैयद अहमद सर्वथा स्वतन्त्र हो गए और फलत. परिणाम भी अच्छा न हुआ। परन्तु इस प्रसगमें ध्यान देने की बात यह है कि इसका सचालन कोई सुल्तान वा बादशाह नहीं, बल्कि एक सूफी घराना कर रहा है और यह जिहाद भी कोई बादशाही जिहाद नहीं, मुसलिम जनता का निजी जिहाद है। वैसे तो इस्लाम का जन्म ही जिहादसे हुआ है और मुसलिम क़ाफ़िरोंपर सदा से जिहाद करते रहे हैं, पर सच पूछिए तो वह शासकों का जिहाद था। उससे सामान्य जनता का कुछ विशेष सम्बन्ध न रहता था। किन्तु यह अहमदी जिहाद वैसा कुछ भी न था। यह एकमात्र इसलाम को लेकर उठा था और इसीसे इसके साथ इसका इसलामी सितारा भी डूब गया। इससे पहले इतना बड़ा इसलामी आन्दोलन इस देश में क्या, अन्यत्र भी कभी नहीं उठा था। हजरत मौलाना उबैदअल्लाह सिन्धी इसी के बारे में लिखते हैं—

"यह वाकआ ६ मई सन् १८३१ ई० को पेश आया। जब इमाम वलीअल्लाह की तहरीक पर पूरा सौ बरस गुज़र चुका था। इमाम वली-अल्लाह ने ५ मई सन् १७३१ को काम शुरू किया था और सदी के आखिर में उसके बेनज़ीर (अनुपम) पोते और उसके रुफ़ुक़ा (सुहृदो) ने शहीद होकर तहरीक को हमेशा के लिए ज़िन्दा कर दिया।" (शाह वली...पृ० १७२) और अल्लामा सैयद सुलेमान नदवी भी तो इसी को

इस प्रकार पुष्ट करते हैं—"दादाने जो नक्शा, तैयार किया था, पोते ने उसी नक्शा को अपने खून से रँग कर तैयार करना चाहा।"

—सीरत, पृ० ११।

अब यदि यही 'नक्शा' जिहाद का मूल कारण है, तो इसके लिए दादा शाह वली अल्लाह से पोता मौलाना इस्माइल शहीद तक की तहरीक का अध्ययन करना चाहिये और इसे केवल सैयद अहमद की उमग अथवा कम्पनी बहादुर की कूट नीति का कुफल नहीं मानना चाहिये। अरे! यह तो किसी गूढ विचार धारा का बाहरी व्यवस्थित विस्फोट है, जो सिक्खों की कुशलता और महाराजा रणजीतसिंह की रणदक्षता के कारण फूट कर चकनाचूर हो गया और किसी प्रकार का इसलामी फल लाने के पहले स्वय इसलाम का सहारक बन गया। फिर क्या हुआ उसे भी ध्यान से सुनें—

हाँ, तो हजरत सैयद अहमद बरेल्वी के जिहाद के टूट जाने (सन् १८३१) से इस्लाम पर जो उल्कापात हुआ, उससे मुसलमानों के इकबाल का सितारा डूब गया। पर इधर उधर जहाँ-तहाँ अभी मुसलमानों का चिराग झुगझुगा रहा था। देखते ही देखते पहले सिन्ध का चिराग बुझा और फिर अवध का। किन्तु तो भी देहली का बड़ा चिराग टिमटिमाता ही रहा। अब भी मुसलमान अपने कानों सुन सकता था कि 'मुल्क बादशाह' का ही है, 'कम्पनी सरकार' का तो केवल हुक्म है। जब कभी उसके कानों में झुग्गी यह ध्वनि पड़ती थी कि 'खल्क खुदा, मुल्क बादशाह और हुक्म कम्पनी सरकार', तब उसका दिल बाँसों उछल पड़ता था, और वह समझता था कि अभी राज तो अपना ही है, फिर चाहे वह हाथ में किसी के भी हो! किन्तु जब उसने देखा कि उसके देखते ही देखते उसी की आँखों के सामने उसी की हवा से चिराग भी गुल हो गया और अब (सन् १८५८) उसकी शाही शान के लिए उसका कोई ठिकाना न रह गया, तब वह काँप उठा और फिर इस देश को छोड कर यहां दूर देश की चिन्ता में लगा। पर जब कहीं कोई ठिकाना दिखाई नहीं दिया, तब 'हिजरत' और 'जिहाद' को छोड़कर वह 'सर' बनने लगा और अपनी कौम की भलाई में अपने आपको खपा देना ही सच्चा इस्लाम समझने लगा।

सर सैयद अहमदखाँ बहादुर और कुछ नहीं, इसी इसलाम के फूल हैं और इसी फूल का है पाकम्बद फल, जो आज फूट फूटकर चारों ओर अपना बीज बो रहा है और एक देश को दो टूक कर देने पर उतारू हो चुका है। आप समझते होंगे, यह पानी पर पसार पानेवालों की कूटनीति है। पर आप भूल जाते हैं कि मूलत यह किन्हीं सर सैयद की सीख भी है। सुनिए, वे सवाँरकर कहते हैं—

यह बात सच है कि हमारी गवर्नमेंट ने हिन्दू-मुसलमान दोनो कौमों को, जो आपस में मुखालिफ (प्रतिकूल) हैं, नौकर रखा था, मगर बसबब मखलूत (मिश्रित) हो जाने इन दोनों कौमो के हर एक पल्टन में यह तफरका (भेद) न रहा था। जाहिर है कि एक पल्टन के जितने नौकर थे, उनमें बसबब एक जा रहने के और एक लडी में मुरत्तिब (क्रमबद्ध) होने के आपस मे इत्तहाद और इरतिबाद (मिलाप) निरा-राना हो जाता था। एक पल्टन के सिपाही अपने-आपको एक बिरादरी समझते थे और इसी सबब से हिन्दू मुसलमान की तमीज़ (पहिचान) न थी। दोनों कौमें आपस मे अपने-आपको भाई समझती थीं। उस पल्टन के आदमी जो-कुछ करते थे, सब उसमें शरीक हो जाते थे। एक दूसरे का हामी (पक्षी) और मददगार हो जाता था। अगर इन्हीं दोनों कौमो की पल्टनें इस तरह पर आरास्ता (सजी) होतीं कि एक पल्टन निरी हिन्दुओं की होती, जिसमे कोई मुसलमान न होता और एक पल्टन निरी मुसलमानों की होती, जिसमें कोई हिन्दू न होता, तो यह आपस का इत्तहाद और विरादरी न होने पाती और वही तफरका कायम रहता और मैं ख्याल करता हूँ कि शायद मुसलमान पल्टनो की कारतूस जदीद काटने मे भी कुछ उज्र न होता।

—असबाब बगावत पृ० ५३।

सर सैयद अहमदखाँ बहादुर ने इसी के साथ इतना और भी प्रकट कर दिया कि उनकी दृष्टि में—

मुसलमान इस मुल्क के रहने वाले नहीं हैं। अगले बादशाहों के साथ बवसीला रोजगार के हिन्दुस्तान में आए और यहाँ तवत्तुन

(निवास) इख़्तियार किया। इसलिए सबन्के-सब रोज़गारपेशा थे और कमी रोज़गार से उनको ज़्यादातर शिकायत बनिस्बत असली बाशिन्दे इस मुल्क के थी। इज़्ज़तदार सिपाह का रोज़गार, जो यहाँ की जाहिल रियाया के मिज़ाज से ज़्यादातर मुनासिबत रखता है, हमारी गवर्नमेंट में बहुत कम था। सरकारी फ़ौज जो ग़ालिबन मुरक्कब (मिश्रित) थी। तिलंगों में, उसमें अशराफ़ लोग नौकरी करनी मायूब (दोषपूर्ण) समझते थे। सवारों में अलबत्ता अशराफ़ों की नौकरी बाक़ी थी। मगर वह तादाद में इस क़दर क़लील (अल्प) थी कि अगले सिपाह-सवार से उसको कुछ भी निसबत न थी। अलावा सरकारी नौकरी के अगले अहद के सूबादारों, सरदारों और अमीरों के निज के नौकर होते थे कि उनकी तादाद भी कुछ कम ख़्याल करनी चाहिए। अब यह बात हमारी गवर्नमेंट में नहीं है। इस सबब से हद से ज़्यादा क़िल्लत (कमी) रोज़गार थी। इसका नतीजा यह हुआ कि जब बाग़ियों ने लोगों को नौकर रखना चाहा, हज़ारहा आदमी नौकरी को जमा हो गए और जैसे भूका आदमी क़हत के दिनों में अनाज पर गिरता है, उसी तरह यह लोग नौकरियों पर जा गिरे।

—असबाब बग़ावत, जमीमात, हयात जावेद, पृ० ४०।

कुछ ध्यान दीजिए, तो पता चले कि सर सैयद (सैयद अहमदख़ाँ) अपनी सरकार को क्या सिखा रहे हैं और इस प्रकार सिखा-पढ़ा कर उससे अपना काम भी क्या निकालना चाहते हैं। सर सैयद ने अपने मरे जीवन में जो कुछ किया, उसका थोड़ा बहुत पता सभी लोगों को है, परन्तु इनमें कितने ऐसे हैं, जिन्हें बग़ावत के इन असबाब का पता है ! सच पूछिए तो आज भी हम विलायती द्रव्यों के कारण ही नाना प्रकार के दुःखजाल में फँसे हुए हैं और सैयदी लोगों की कृपा से ही फूट का कड़वा फल चख रहे हैं। हम कह नहीं सकते कि यह विलायती विरवा कब तक हमारी खेती में विष-बीज बोता रहेगा और हमारी उदार कर्म-भूमि में विरसता का फल फलता रहेगा। हम यह भी नहीं जानते कि किस प्रकार

ये विदेशी चौर्लुटे जीव बिना छीले-छाले अपने-आप ही हमारे जीवन-वृक्ष से पी सकते हैं और किसी प्रकार के पाचरकी आवश्यकता भी नहीं रह जाती। ले देके हमें तो बस इतना ही कहना है कि यह सैयद अहमदखाँ बहादुर की ही धरपोड-नीति है, जो सन्' ५७ के बाद अँगरेजों को यह पाठ पढ़ाती है, जिसका भूल जाना इस जीवन में तो सर्वथा असम्भव है। हाँ, किसी स्वर्गीय जीवन में सम्भव हो, तो हो। परन्तु ईसा मसीह के शिष्यों के इतना चिल्लाने पर भी जब आसमान आग ही बरसता रहा है, तब माल फेरने वालों की आसमानी बादशाहत कभी जमीन पर उतर सकेगी, इसकी सम्भावना तो नहीं है।

हाँ आगे का समाचार यह है कि—

यह हंगामा (उपद्रव) ऐसा था कि मुसलमानों को अपने मजहब की बमोजिब (अनुसार) ईसाइयों के साथ रहना चाहिए था, जो अहल किताब और हमारे मजहबी भाई बन्द हैं, नबियों पर ईमान लाए हैं, खुदा के दिए हुए अहकाम और खुदा की दी हुई किताब अपने पास रखते हैं, जिसका तसदीक (प्रतिपादन) करना और जिस पर ईमान लाना हमारा ऐन (ठीक) ईमान है। पस इस हगामे में जहाँ ईसाइयों का खून गिरता, वहीं मुसलमानों का भी खून गिरना चाहिए था। फिर जिसने ऐसा नहीं किया, उसने अलावा नमकहरामी और गवर्नमेंट की नाशुकरी के, जो किसी हालत में रय्यत को जायज न थी, अपने मजहब के भी बरखिलाफ किया।" —हयात, १, पृ० ८६–८७।

यह तो हुई इधर मुसलमानों की बात, अब उधर 'ईसाई गवर्नमेंट' की सीख सुनिए। सैयद अहमदखाँ अब सर सैयद हो गए हैं और उनकी आशा फूल चुकी है। अब तो अलीगढ के प्रांगण में महाशय ब्लंट से जो पार्लमेंट के सदस्य हैं, यह कहा जा रहा है—

मुसलमानों की यह ख्वाहिश (इच्छा) कि मुसल्मानों में और इंगलिश नेशन में सिम्पथी (सहानुभूति) क़ायम हो, कोई अजीब बात नहीं है। कभी कोई ऐसा जमाना नहीं गुजरा कि हम मुसल्मानों में और इंगलिश नेशन में कोई मारका (अवसर) ऐसा गुजरा हो कि हममें और उनमें कोई बिनायए-मुखासमत (विरोध की जड) कायम हुई हो। उनको हमसे बदला लेने की रगबत (रुचि) हो और हमको उनके उरूजे (उन्नति) इकबाल से रश्क (ईर्ष्या) व हसद (द्वेष) हो। क्रूसेड के (ईसाइयों का जिहाद) जमाना में जो एक जमाना हर किस्म की अदावतों के हर अगेख्ता (खडा) होने का था, इंगलिश नेशन को बहुत ही कम उन मारकों से (समरों) ताल्लुक़ था।

यह बात सच है कि हमने हिन्दुस्तान में कई सदियों तक शाहंशाही की। यह भी सच है कि हम अपने बाप-दादा की शान व शौकत को भूल नहीं सकते। लेकिन अगर यह खयाल किसी शख्स के दिल में हो कि हम मुसल्मानों को इंगलिश नेशन के साथ इस वजह से कि उन्होंने हमारी जगह हिन्दुस्तान की हुकूमत हासिल की, कुछ हसद व रश्क है, तो वह खयाल महज बेबुनियाद होगा। वह जमाना जिसमें अंगरेजी हुकूमत हिन्दुस्तान में कायम हुई, ऐसा जमाना था कि बेचारी इण्डिया बेवा हो चुकी थी। उसको एक शौहर की जरूरत थी। उसने खुद इंगलिश नेशन को अपना शौहर बनाना पसन्द किया था, ताकि गास्पल के अहदनामाके मुताबिक यह दोनों (मुसल्मान और ईसाई) मिल-कर एक तन हों। मगर इस वक्त इसपर कुछ कहना जरूर नहीं है कि इंगलिश नेशन ने इस पाक वादा को कहाँ तक पूरा किया।

—हयात, २, पृ० ४१-४२।

'सर सैयद श्री ब्लंट साहब के द्वारा पवित्र सुसमाचार के आधार पर क्या चाहते हैं, इसके कहने की आवश्यकता नहीं। बस, ध्यान से सुनें—

हिन्दुस्तान में हमने अपने मुल्क की भलाई के वास्ते इंगलिश हुकूमत कायम की। हिन्दुस्तान में इंगलिश हुकूमत कायम होने में हम और वह मिस्ल कैंची के दो पलड़ों के शरीक थे। कोई नहीं कह सकता कि उन दोनों में किसने ज़्यादा काम किया। पस हम मुसलमानों की निसबत ऐसा ख़याल करना कि हम इंगलिश हुकूमत को एक नागवारी (असत्यता) से देखते हैं, महज एक ग़लत ख़याल है। —वही।

दो पलड़ों की व्याख्या में मौलाना हाली ने मीरजाफर और क्लाइव एवं शाह आलम और लार्ड लेक का संकेत किया है। पर सच पूछिए तो स्वयं सर सैयद भी सन्' ५७ की क्रान्ति में एक पलड़े से कम न थे, और फलतः उनका इशारा भी इधर ही अधिक है। जीवन-भर उनका उद्देश्य रहा है अँगरेजों के चित्त से यह मिटा देना कि सन्' ५७ के विद्रोह में मुसलमानों का भी कुछ हाथ रहा है, और यदि रहा भी है, तो पाजी और ज़लील मुसलमानों का, कुछ अशराफ़ मुसलमानों का नहीं। सर सैयद को इतने से ही सन्तोष नहीं होता। वे किस उछाह से और भी उछल कर कहते हैं—

इंगलिश नेशन हमारे मफ़तूह (विजित) मुल्क में आई, मगर मिस्ल एक दोस्त के, न बतौर एक दुश्मन के। हमारी ख़्वाहिश है कि हिन्दुस्तान में इंगलिश हुकूमत सिर्फ एक ज़मानायदराज़ (दीर्घकाल) तक ही नहीं, बल्कि इटर्नल (नित्य) होनी चाहिए। हमारी यह ख़ाहिश इंगलिश कौम के लिए नहीं है; बल्कि अपने मुल्क के लिए, हमारी यह आरज़ू (प्रार्थना) अंगरेज़ों की भलाई या उनकी ख़ुशामद की वजह से नहीं

है, बल्कि अपने मुल्क की भलाई और बेहतरी के लिए है। पस कोई वजह नहीं है कि हम में और उनमें सिम्पथी न हो। सिम्पथी से मेरी मुराद पोलिटिकल (राजनीतिक) सिम्पथी नहीं है। पोलिटिकल सिम्पथी ताँबे के बरतन पर चाँदी के मुलम्मा से ज्यादा कुछ वकाअत (मूल्य) नहीं रखती। एक फरीक़ (पक्ष) जानता है कि वह ताँबे का बरतन है, दूसरा फरीक़ समझता है कि वह झूठे मुलम्मा की कलई है। सिम्पथी से मेरी मुराद बिरादराना व दोस्ताना सिम्पथी है।

—वही, पृ० ४२।

सैयद अहमदखाँ बहादुर के इस प्रस्ताव से प्रकट ही है कि सैयद साहब 'मज़हब' और 'रवइ' के आधार पर अँगरेजों से 'बिरादराना व दोस्ताना सिम्पथी' चाहते थे। सच तो यह है कि सर सैयद अहमदखाँ ने भी उसी परम्परा का पालन किया है, जो यहाँ के परदेसी जीवों की सदा से बपौती रही है। शाह वली अल्लाह साहिब ने मुगली शासन की आँख में धूल झोंक कर अफगानों का (सन् १७६१) स्वागत किया, तो सर सय्यद अहमदखाँ ने और भी आगे बढ़ कर हाथ मारा। उन्होंने सीधे अँगरेजों की शरण ली और उनसे 'भाईबन्द' का नाता जोड़ा। देश भाड़ में जाय, पर उनका पेट अवश्य भरे, यही सैयद साहब का लक्ष्य है। इसी लक्ष्य के लिए तो मुसल्मानों ने हिन्द में अँगरेजी शासन की नींव डाली और हिन्दियों को कतरने में कैंची के एक पल्ले का काम किया। पर अँगरेज भी अजीब निकले। शासन के क्षेत्र में किताबी और काफ़िर को सम मान लिया। बेचारे सैयद की सारी शान मारी गई और वह भी 'मसतूह' ही समझा गया। परन्तु उसने देश को तो रसातल भेज ही दिया। उसके मन की तो न हुई, पर अँगरेजी सरकार की बन गई। उसने 'सिम्पथी' से तो काम लिया, पर 'मुलम्मा' के रूप में ही,

मूल के रूप में कदापि नहीं। सर सैयद के सिखलाने का नतीजा यह हुआ कि मुसलमान मालिक तो नहीं, पर हाकिम तो जरूर हो गया और हो गया मुसलमान साहब का खानसामा भी। पद तो वही, पर प्रतिष्ठा कौड़ी की तीन भी नहीं।

सैयद साहब 'मफ्तह' मुल्क की चिन्ता मे घुले जाते थे कि बनारस के कमिश्नर श्री शेक्सपियर ने पूछ ही तो दिया कि आज यह मुसल्मानों की कोरी चर्चा क्यों? अभी तक तो हिन्दुस्तान की हित कामना सता रही थी! आपने तरस खा कर उत्तर दिया—

अब मुझको यकीन हो गया है कि दोनों कौमें किसी काम मे दिल से शरीक न हो सकेंगी। अभी तो बहुत कम है, आगे-आगे इससे ज़्यादा मुखालिफत श्रौर इनाद् (वैर) उन लोगों के सबब जो तालीमयाफ्ता (पढ़ेलिखे) कहलाते हैं, बढता नजर आता है। जो जिन्दा रहेगा, देखेगा। —हयात १, पृ० १२२-३।

श्री शेक्सपियर ने इस पर जब 'निहायत अफसोस' जाहिर किया, तब आपने दिल थाम कर फरमाया—

मुझे भी निहायत अफसोस है, मगर अपनी पेशिनगोई (भविष्यवाणी) पर मुझे पूरा यकीन है।

'पूरा यकीन' क्यों न होता, आखिर इसके कर्त्ता-धर्त्ता भी तो आप ही थे! खैर, बताना यह था कि यह घटना और कुछ नहीं, कचहरियों में नागरी के प्रयोग का प्रस्ताव था। उस नागरी के व्यवहार का, जो कम्पनी सरकार की आईन में उस समय स्थान पा चुकी थी, जब पारसी राजभाषा थी और उर्दू सिर्फ 'मजाह' वा चुहल के काम में आती थी। यह सीधी-सी बात सैयद अहमदखाँ को ऐसी चुभी कि नागरी का काँटा जीते-जी उन्हें सताता ही रहा, मरने पर भी मुसलमान का

नागर होकर रह गया। करें क्या, नागरी है ही मफ़्तूहों की चीज़ विजितों
लिपि। भला कोई फातेह (विजयी) उसको राजलिपि के रूप में कैसे
रख सकता है! सैयद के मुसल्मान तो फातेह हैं, मफ़्तूह नहीं, जो मफ़्तूहों के र
चल सकें। जब हिन्दू ने सिर उठा दिया, तब मुसल्मान की कैसे निभ सकती
फिर क्या था, सैयद ने समुद्र की ठानी और झट लन्दन पहुँच गए और
से अपने यार सैयद मेहदी को लिखा—

मेरी राय में आप बाबू शिवप्रसाद का जवाब, जिसके छापने
राजा जैकिशनदास बहादुर ने इनकार किया, किसी अखबार में छ
वाइए। इस बाब में मैंने बहुत-कुछ ख़याल किया है और आप से बहु
कुछ कहना और सलाह करनी है। उसके जैसा मुनासिब होगा, कि
जावेगा। एक ख़ास मुसलमानों के फ़ायदा के लिए जारी करना मैं
तजवीज कर लिया है। और तहज़ीबुल अख़लाक़ उसका नाम फ़ारस
और अंगरेज़ी में 'मुहमडन सोशल रिफ़ार्मर' रख लिया है।

'तहज़ीबुल अखलाक़' ने मुसलमानों के लिए जो कुछ किया, सच किया
मौलाना हाली भी तो पढ़कर कहते हैं—

तहज़ीबुल अख़लाक़ ही ने अगर ज़रा ग़ौर से देखा जाय तो मुसल
मानों को मुद्दतदराज (चिरकाल) के बाद क़ौमियत के माने याद दिलाए
हैं। क़ौमियत जो दरहक़ीक़त एक लफ़्ज़ इसलामी उख़ूवत (बन्धुत्व) क
मुरादिफ़ (पर्याय) है उसके मफ़हूम (संकेत) से हिन्दुस्तान के मुसल्मानों को
बिलकुल जुहूल (विस्मरण) हो गया था। उनमें भी मिस्ल हिन्दुओं के
ज़ातों की तफ़रीक़ (भेद) पैदा हो गई थी और एक ज़ात को दूसरी
ज़ात के साथ क़ौमी हैसियत से कुछ ताल्लुक़ न समझा जाता था।

ठानों को यह इस्तेह्क़ाक़ (अधिकार) न था कि वह मुग़लों की फ़तूहात (विजयी) पर फ़ख़्र कर सकें और सादात (सैयद) इस बात का हक़ नहीं रखते थे कि बनी उमय्या या बनी अब्बास के कारनामों पर नाज़ाँ हों। इसके मज़्हबी फ़िरक़ों के सिवा इख़्तलाफ़ ने उनमें एक दूसरी तरह का तफ़रिक़ा (भेद) डाल रखा था, जिसके सबब से वह राबिता (सम्बन्ध) जो तमाम अह्ल क़िब्ला में बसबब इत्तहाद इस्लामी के मुतहक़्क़िक (संघटित) होना चाहिए बाकी न रहा था। तह्ज़ीबुल अख़्लाक़ ने इन दोनों तफ़रिक़ों के दूर करने की बुनियाद डाली और हिन्दुस्तान के लाखों मुसलमानों में कम-से कम यह ख़याल ज़रूर पैदा कर दिया कि ज़ातों के तफ़रिक़ा या मज़्हबी तरीकों के इख़्तलाफ़ से क़ौमी इत्तहाद में कुछ फ़र्क़ नहीं आता। —वही, पृ० ४८९।

सर सैयद की इस सीख में हिन्दुस्तानी मुसलमानों को क्या मिला, इसे कौन कहे ? यहाँ तो हिन्दुस्तान के उन लाखों मुसलमानों का बखान हो रहा है, जिनका जीतना ही धर्म रहा है और धावा बोलना ही परम पुरुषार्थ। अच्छा, इतना और भी जान लीजिए कि—

इसके सिवा मुसलमानों में क़ौमियत का ख़याल पैदा करने के लिए एक और चीज़ की ज़रूरत है, जिसको आज तक हिन्दुस्तान के आम मुसलमानों ने इल्तिफ़ात (ध्यान के योग्य) नहीं समझा। हालाँकि वह एक निहायत मुहतम्मबिश्शान (गौरवपूर्ण) मसयला है। लिबास जिसकी निस्बत हमारे बुज़ुर्गों का यह क़ौल था कि 'अन्नासो बिल्लबासे' (प्राणी परिधान से पहिचाना जाता है) और जिससे एक क़ौम की दूसरी क़ौम से तमीज़ की जाती है। हिन्दुस्तान के मुसलमानों ने इसमें कोई इम्तयाज़ (विभेद) बाकी नहीं रखा—अँगरखा, पाजामा, टोपी, अम्मामा, पगड़ी या जूता, ग़र्ज़ कि कोई चीज़ मुसलमानों के लिबास में ऐसी नहीं है, जिस पर क़ौमी ख़ुसूसियत का इतलाक़ (प्रयोग) हो सके। हिन्दू-मुसलमानों में पहले सिर्फ़ उल्टे और सीधे परदा की तमीज़ थी, मगर

जब से अचकन का रिवाज हुआ है, यह तमीज भी बाक़ी नहीं रही। विता (अतिरिक्त) नजर और मुल्कों के जहाँ हर कौम एक खास लिबास रखती है, खुद हिन्दुस्तान में अक्सर मुअज्जिज (प्रतिष्ठित) कौमें हैं, जो सिर्फ अपने कौमी लिबास से पहचानी जाती हैं—जैसे पारसी, मरहठे, बंगाली, राजपूत वगैरह। मगर मुसलमानों के लिबास में कोई कौमी ख़ुसूसियत नहीं पाई जाती। लिबास का मुत्तहिद (एक) होना कौमी एगानगत (एकता) के बढ़ाने और मुग़ायरत (विजातीयता) के दूर करने में वैसा ही दखल रखता है, जैसा जबान, नस्ल और मजहब का मुत्तहिद होना। इसके सिवा जिस कौम के लिबास में कोई कौमी खुसूसियत नहीं होती, उनकी मजलिस, उनके मेले और उनकी जमाअतें दूसरी कौमों की नजर में एक गोहार से ज़्यादा वक़अत (मूल्य) नहीं रखतीं।

—हयात, २, पृ० ७९।

मौलाना हाली ने 'लिबास' को जो महत्व दिया है, उसको ध्यान में रखकर अब देखिए यह कि 'मुसलमान' की 'शान' और इम्तयाज के लिए किया क्या रहा है और मुसलमान कौम का संकेत क्या है। उसी साँस में मौलाना बड़ी शान से फरमाते हैं—

इसी सबब से सर सैयद को हमेशा यह ख़याल रहा है कि हिन्दुस्तान के मुसलमान भी और कौमों की तरह अपने लिबास में कोई ख़ुसूसियत और माबेहिउलइम्तयाज (अभिज्ञान) पैदा करें और चूँकि बकौल उनके आज हिन्दुस्तान में कोई मुसलमान अथारिटी ऐसी मौजूद नहीं है, जो एक नेशनल लिबास इख़्तिरा (उत्पन्न) करे और उसके रिवाज देने पर जोर दे। इसलिए उन्होंने मुसलमानों की एक मुअज्जिजतरीन कौम यानी तुर्कों का लिबास अव्वल खुद एख्तयार करके कौम में एक मिसाल कायम की और फिर महम्मडन कालेज के बोर्डरों के लिए उस काअदा के मुवाफ़िक़ जिस पर कुस्तुन्तुनियाकी दरसगाहों में (पाठशालाओं) अमलदरामद (व्यवहृत) है, यूनीफार्म का काअदा जारी करने का इरादा किया।

—वही, पृ० ८०।

पर सैयद को इस लिबास का सूत्र कहाँ से मिला, तनिक इसे भी देख तो लें इस गोरखधंधे का रहस्य खुले। यही हाली साहब बड़े ढंग से बताते हैं कि—

विलायत जाने से पहले उनका लिबास हिन्दुस्तानी वज़ा (ढंग) का रहा, मगर जब विलायत का इरादा किया तो मिस्टर हटन ने, जो उनके दोस्त थे, इंगलिस्तान से उनको लिखा कि यहाँ आवो तुर्की लिबास पहन-कर आना। अगर यहाँ हिन्दुस्तानी लिबास में आए तो यहाँ के लोग तमाशा बना लेंगे। बज़ाहिर उन्होंने इसी वजह से तुर्की लिबास एख्तयार किया था, मगर दरहक़ीक़त, जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, यह तब-दील लिबास का एक बहाना था। वह पहले ही हिन्दुस्तान के मुसलमानों में एक क़ौमी लिबास की बुनियाद डालने का इरादा कर चुके थे और इस मक़सद (उद्देश्य) के लिये उन्होंने तुर्की लिबास से बेहतर किसी लिबास को नहीं समझा था। —हयात, २, पृ० ३९८।

सर सैयद के 'ज़ाहिर' और 'बातिन', बाहर और भीतर में कितना भेद भरा था, इसकी अभी-अभी जो झलक भाग्यवश मौलाना हाली की कृपा से मिल गई है, उसे सूम का धन और कुबेर की कुंजी समझ कर अभी किसी हृदय के कोने में रख छोड़िए और देखिए यह कि यह तुर्की वेष क्यों ? लीजिए, स्वयं सैयद साहब बरस पड़े हैं—

अगर सुलतान महमूद इन तआस्सुबात (विद्वेषों) को न छोड़ता और सुलतान अब्दुल मजीद उस तरीक़ा को, जिसे सुलमान महमूद ने एख्तयार किया था, तरक्क़ी न देता तो आज रूसियों के हमले के सबब तुर्कों का और मुसलमानों का दुनिया पर नाम व निशान नहीं रहता और खुदा जाने जज़ीरा (द्वीप) अरब में क्या होता। उसके बाद हाल के सुलतान सुलतान अब्दुल अज़ीज़ ने जो उससे भी ज़्यादा बेतआस्सुब तरीक़ा एख्तयार किया है, अगर ऐसा न करता तो सलतनत जिस तारीकी और तबाही की हालत में पड़ी थी मुमकिन न था कि अब तक ग़र्क़ न हो जाती। इन तीनों बादशाहों को यूरप का तरीक़ा एख्तयार करने उन

जाहिल मुतास्सुब (विद्वेषी) तुर्कों के इलज़ाम से और बेवकूफ़ नास
मौलवियों और काज़ियों की लानत-मलामत से बचाना निहायत मुश्कि
था। मगर जो वलमा कि अक़्लमन्द और बेतास्सुब थे, उन्होंने लोगं
उन तमाम चीज़ों को जिनको सुलतान चाहता था और जिसके ब
दरहक़ीक्त तरक्क़ी मुसलमानों की ग़ैरमुमकिन थी, जायज़, दुरुस्त
ऐन मुवाफ़िक़ शरा (विधि) बतलाया और ख़ुद सुलतान ने और तम
लोगों ने उनको एख़्तयार किया। पस यह सबब है, जो आज
कुसतुनतुनिया का नाम सुनते हैं। यह तमाम हालात मैंने जमा किए
सब आपको दिखलाऊँगा। बहरहाल तआस्सुब ख़ुद बरख़िलाफ़ शरी
है। हिन्दुस्तान के मुसलमान उसमें गिरफ़्तार हैं। ख़ुदा की नामेहरब
उनकी तरफ़ रुजूअ (प्रवृत्त) है। यह अब मिस्ल यहूद के ज़लील और ख़
(हत) होनेवाले हैं। फिर इसका इलाज क्या है ? ख़ुदा के साथ ल
ग़ैरमुमकिन है। दुनिया में जो किताबें तसनीफ़ (रचित) हो रहीं
और हर रोज़ छपती हैं और बिकती हैं, उनमें जो हालात मुसलमानों
लिखे जाते हैं, उनको देख कर मर जाने को जी चाहता है।

—ख़तूत, पृ

हाँ, तो सर सैयद सब कुछ कर सकते थे; पर हिन्दुस्तान में जलील होकर
नहीं सकते थे। हिन्दू तो जलील थे ही। अब उसके वेष से वेष मिलाकर र
अपने तईं जलील करना नहीं, तो और क्या था। रही अरब की बात। उस
जमाना तो कभी का लद चुका था। मुसलमानों में तुर्क ही ऐसे थे, किसी प्र
शासन करते जा रहे थे और समय के साथ अपना चोला भी बदलते रहते
सर सैयद ने इसी का संकेत अपने प्रिय मित्र सैयद महदी से किया है और
आशा भी की है कि शरा को अपने अनुकूल बनाने में उनको उनसे मदद भी
मिलेगी। ताज्जुब की बात तो यह है कि लन्दन में पड़े-पड़े सर सैयद यह सोच
हैं और अरब एवं रसूल की औलाद होते हुए भी अरबी वेष को तिलांजलि
तुर्की भूषा अपना रहे हैं। कारण शान के सिवा और कुछ है तो यही कि—

तुर्कों का तमाम लिबास बजुज़ (सिवा) टोपी के बिलकुल यूरोपिय

। सबने ज़मीन पर बैठना बिलकुल छोड़ दिया है। मेज़ व कुर्सी पर ठते हैं। मेज़ पर छुरी काँटों से खाना खाते हैं। उनके मकान की आरा-स्तगी और तरीक़ा बिलकुल यूरोपियन का-सा है। जब तुर्क अपनी हम-पाया (समकक्ष) क़ौमो फ्रेंच और अंगरेज़ों मे मिलकर बैठते हैं तो हमजोली मालूम होते है और उम्मीद है कि रोज़-बरोज़ और ज्यादा हज्जूब होते जायँगे। पस हिन्दुस्तान के मुसलमानों से भी हम यही चाहते हैं कि अपने तआस्सुबात और ख़यालात खाम (भ्रष्ट विचारों) को छोड दें और तरबियत (आचार) व शाइस्तगी (शिष्टता) मे कदम बढ़ाएँ।"

अब यदि यही बात है, तो हिन्दुस्तान के मुसलमान 'टर्किश लिबास' क्यों धारण करें, सीधे यूरोपियन वेष क्यों न बना लें? नहीं, इसमें सब से बड़ी कमी यह कि इससे अपनी 'इम्तयाज़' मारी जायगी और इसलाम की शान भी न रह जायगी। निदान खलीफा का वेष धारण करना चाहिए और विश्व मे मुसलिम एका का झंडा फहराना चाहिए। ठीक है, इसे रोकता कौन है? पर भूल मत जाओ कि जिस समय भारत में जिहाद की धूम थी और इसलाम हिन्दियत से बाल बाल बचा जा रहा था, उसी समय तुर्की में यह यूरोपीकरण हो रहा था और खलीफा या सुलतान महमूद सारी प्रजा में एका लाने के विचार से ईसाई प्रजा की वेषभूषा को अपना रहे थे और उसी को 'नेशनल' लिबास बना रहे थे। उस समय उनके सामने न तो इसलामी शान का प्रश्न था और न इम्तयाज का और यदि था भी, तो केवल अपने देश का। सुल्तान महमूद ने अपनी प्रजा को देखा, कुछ हमजोली फ्रेंच और अंगरेज को नहीं। यदि उन्हें 'फातेह' की शान सताती, तो उनके सिर पर 'मफतूह' प्रजा की लाल टोपी न होती। हैट से उन्हें भी प्रेम होता। यदि महमूद प्रजा से न मिलते और यूनान या अलबानिया की इस टोपी को न अपनाते, तो आज तुर्की का नाम तक न होता और किसी सर सैयद को किसी 'टर्किश लिबास' की भी न सूझती। प्रमादवश भूल मत जाओ, कान खोल कर सुनो और आँख खोल कर पढ़ो कि इधर सन् १८३१ ई० में सैयद अहमद बरेलवी के अन्धे जिहाद की कृपा से भारत में इसलाम की जगहँसाई होती और फलतः

'मुसलमानों के इक़बाल का सितारा ग़रूब' हो जाता है और उधर सुल्तान महमूद की उदार नीति की दया से डूबती खिलाफ्त बच जाती है और इसलाम की शान भी जगी रहती है। सुल्तान महमूद ने स्थिति को वश में लाने के विचार से वह वेष धारण किया, जो आज 'टर्किश लिबास' के पुनीत नाम से हिन्दुस्तान के मुसल-मानों में फैल रहा है और इसलाम का पक्का सुबूत समझा जा रहा है। पर सन् १८३२ के पहले यह सुलतान की नसारी प्रजा की पोशाक थी, कुछ मुसलिम सुल्तान या खलीफा की नहीं। पर यहाँ तो बनी-बनाई एकता को मिटाया जा रहा है जिहाद और इसलाम की ओट में, केवल इम्तयाज के लिए। बलिहारी है इस विलायती दासता को।

सर सैयद कहने को तो यहाँ तक कह जाते थे कि—

आपने जो लफ्ज़ (अपने लिए) हिन्दू का इस्तैमाल किया है, वह मेरी राय में दुरुस्त नहीं। क्योंकि हिन्दू मेरी राय में किसी मज़हब का नाम नहीं है, बल्कि हर एक शख्स हिन्दुस्तान का रहने वाला अपनेतई हिन्दू कह सकता है। पस मुझे निहायत अफसोस है कि आप मुझको बावजूद इसके कि मैं हिन्दुस्तान का रहने वाला हूँ, हिन्दू नहीं समझते।

—सफरनामा पंजाब, पृ० १२९, से मुसलमानों का रोशन मुस्तक़बल पृ० २७१ पर अवतरित।

पर करने को क्या नहीं कर जाते। जब कभी अपने को हिन्दू कहने अथवा हिन्दुओं के टाट पर बैठने का अवसर आता, झट कान झाड़ कर दूर निकल जाते और छूटते ही बड़े तपाक से बमक पड़ते—

मुसलमान इस मुल्क के रहने वाले नहीं हैं। आला (उच्च) या औसत दरजा के लोग अपने मुल्क से यहाँ आकर आबाद हुए। उनकी औलाद ने हिन्दुस्तान की बहुत-सी जमीन को आबाद किया और कुछ यहाँ के लोगों को, जो इस मुल्क की अदना (सामान्य) कौमों में से न थे, अपने साथ शामिल कर लिया। पस वह निहायत अदने दरजा की कौमें, जो अब तक इतिबार (प्रतीत) इन्सानों से भी खारिज हैं और

निहायत कसीर (अधिक) हैं, हिन्दुओं की मरदुमशुमारी में शामिल हैं। मगर इस किस्म की कोई कौम मुसलमानों की मर्दुमशुमारी में दाखिल नहीं है। —रुयदाद इजलास, १८७२ ई०, पृ० ४।

सर सैयद के मुसलमानों का मुल्क चाहे जहाँ हो, पर वे इस मुल्क के रहने वाले याने हिन्दू नहीं, और चाहे जो हों। सर सैयद को मुसलमानों की भलाई की बड़ी चिन्ता थी। उनकी दृष्टि में उनके 'दादा' रसूल की यही आखिरी अपील थी कि कौम की सेवा करो, कौम की सेवा करो। आपकी साखी से कठगत प्राण होने पर भी रसूल—

उम्मती (प्रजा) उम्मती फ़रमाते थे। जो लोग .कुरान से और जबान शरा से वाकिफ हैं, वह जानते हैं कि उम्मत और .कौम मुतरादिफ़ (पर्याय) ल.फ्ज है और दोनों के एक माने हैं। पस गोया यह अल्फ़ाज़ जेरलब (ओठ के नीचे) जानरफा .कौमी .कौमी थे। पस तुममें से कोई ऐसा है, जो अपने हादी (उपदेशक) की इस पैरवी से मुँह मोड़े और .कौमी .कौमी कहता न मरे ? ओ खुदा ! सबको इसी आखीर कलमा नजात (मुक्ति) देने वाले पर .कायम रख।

—त० अ० १२९३ हि०, पृ० १३४।

सर सैयद के 'क़ौमी क़ौमी' का रहस्य क्या है, इसे भी थोड़ा जान लें, तो 'मुसलमानों की भलाई' का राज खुले और मार्ग के अनेक रोड़े दूर हों। आप कहते हैं—

अफ़सोस इस बात का है कि हमारे दोस्तों के अब तक वही दकियल पुराने खयालात हैं। वह बोर्डिंग-हाउस को ऐसे लोगों से भरना चाहते हैं, जो मसजिदों में मुरदों की फ़ातिहा (श्राद्ध) की रोटियाँ खाने पर बसर औक़ात (समय व्यतीत) करते हैं। अफ़सोस कि उनको तालीम की भी अभी क़दर नहीं हुई है।

थोड़ी तनख़ाह के टीचर और प्रोफेसर क्या तालीम दे सकते हैं ? इन्होंने कभी चार रुपया से ज्यादा तनख़ाह का मियाँजी देखा ही नहीं।

निला शुबहा एक मियाँजी को पान सौ और सात सौ रुपया मिलना इनको मुताज्जिर (चकित) करता होगा। अगर हमारे बाद मदरसतुल उलूम (विद्यापीठ जिसकी स्थापना स्वयं सर सैयद ने की थी और जो मुसलिम यूनिवर्सिटी के रूप में है) का यही हाल होना है, जिसकी दूरंदेशी हमारे दोस्त करते हैं, तो हम खुदा से दुआ करते हैं कि कब्ल इसके इसके कि मदरसतुल उलूम का यह हाल हो, एक शदीद (गहरा) भूचाल आवे और हमारा प्यारा मदरसतुल उलूम जमीन में धँस जावे। आमीन।

—इंस्टीच्यूट गज़ट, २ जुलाई सन् १८८९ ई०, पृ० ७३८ से 'रोशन मुसतकबल', पृ० २२७ पर अवतरित।

सर सैयद किन मुसलमानों की भलाई में घुले जाते थे, इसके बारे में सैयद तुफैल अहमद 'अलीग' लिखते हैं—

इसकी मुखालफत अब सन् १८९४ ई० में सर सैयद के खास मोत किदीन (विश्वासियों) ने बड़े शद व मद (धूमधाम) से की और सैयद निसारहुसैन साहब डिप्टी-मजिस्ट्रेट बहार ने यहाँ तक कहा कि सर सैयद एक तरफ तो छोटे स्कूलों के कायम होने के मुखालिफ हैं, दूसरी तरफ गरीब मुसलमानों की जेब में मुहम्मडन कालिज की बेशबहा (बहुमूल्य) तालीम की खरीदारी के लिए एक पैसा नहीं। अब बजुज् (सिवा) इसके कोई सूरत नहीं कि गरीबों के बच्चों को जहाज़ में भर कर बद्दुओं की आबादी में उतार दिया जाय। मगर बावजूद इन मुखालफतों के नवाब मुहेसन मुल्क और (सर) थ्यूडर मारीसन के ताईदों से सर सैयद का रिजोल्यूशन (प्रस्ताव) पास हो गया, लेकिन पास होने का यह नतीजा तो हुआ नहीं कि अलीगढ-कालिज को बहुत-सा रुपया मिल जाता, बल्कि हुआ यह कि जगह-जगह अलीगढ-कालिज और कान्फ्रेंस की शाखों के तौर पर स्कूल कायम करने का जो शौक मुसलमानों के दिलों में पैदा हो गया था, वह ठंडा हो गया।

—'रोशन मुस्तकबल', पृ० २२८।

सैयद निहारहुसैन साहब को भी बेचारे गरीब मुसलमानों की खूब सूझी। नके बच्चों को जहाज में भर कर बद्दुओं की आबादी में उतार देना चाहते हैं। द्दू ऐसे गए बीते अरब हैं, जो 'हिन्दी बत्ताल' की इस जहाज भरी भेंट को हसा 'गनीमत' की आँख से लेंगे और उन बेचारों को चुपचाप अपने में मेला लेंगे? नहीं, सर सैयद अहमदखाँ तो खूब जानते हैं कि यदि 'साहबा' ा 'मुसलमानों' को गरीबों की चिन्ता होती, तो बद्दू कभी के शिष्ट बन गए होते और उनमें भी अनेक सर हो गए होते। किन्तु सैयद अहमदखाँ को दीन मुसल मानों से चिढ़ है। उनकी दृष्टि में किसी गरीब को मुसलमान कहना 'मुसलमान' को जलील बनाना है। अदना कभी मुसलमान हो नहीं सकता, वह तो सदा गुलाम ही रहेगा। मुसलमान तो वह होगा, जो अपने को आला बना सके और इस देश में इगलिश नेशन कायम रखने में मिस्ल कैंची का एक पल्डा बन सके। बस, सर सैयद की कौम यही आला कौम है। सर सैयद इसी को 'मुसलमान' कहते और इसी की भलाई के लिए मर मिटने को तुल जाते। धुनिया, जुलाहा मुसलमान नहीं, 'मोमिन' भले ही हों। अल्लाह उनकी पुकार सुन सकता है, पर रसूल का वारिस नहीं। हाँ, उसमें मुसलमान का इतना हित अवश्य हो सकता है कि उसको बना कर उसकी ओट में शान से अपना पेट पाले और समय-समय पर जिहाद की वेदी पर उसे कुरबान करता रहे। बस, इससे आगे यदि कुछ और भी उससे उसका लाभ हो सकता है, तो यही कि जन-संख्या के आधार पर मुसलमान को अधिक हाकिमी मिले और अधिक-से अधिक 'मुसलमान' का पेट पले।

मुसलमान किधर ?

मेरी रगों में वही खून है जिससे लार्ड रीडिंग की रगें मामूर (भरी) हैं जिन्होंने मुझे क़ैद किया था। मैं सामी नस्ल से ताल्लुक रखता हूँ और अगर लार्ड रीडिंग ने सैहूनियत यहूदीपन से बरगश्तगी (फिराव) एख़तयार नहीं की तो मैंने भी इसलाम को तर्क नहीं किया। मैं जहाँ पहले था वहीं इस वक्त तक हूँ।—मजादीन मुहम्मद अली, सन् १९२८ ई०, पृ०५८७।

यह है स्वर्गीय मौलाना मुहम्मद अली का वह उद्घोष जो लन्दन की 'गोल मेज कान्फ्रेंस' में सन् १९३१ ई० म सबको सुन पड़ा था और यह है उनका दृढ संकल्प जो उसी समय उस मंडप में गूँज उठा था—

आज जिस एक मकसद (उद्देश्य) के लिए मैं आया हूँ वह यही है कि मैं अपने मुल्क को उसी हालत में वापस जाऊँ जब कि आजादी का परवाना मेरे हाथ में हो। मैं एक गुलाम मुल्क को वापस नहीं जाऊँगा। मैं एक गैर मुल्क में जब तक वह आजाद है मरने को तरजीह (महत्त्व) दूँगा और अगर आप मुझे हिन्दुस्थान की आजादी नहीं देंगे तो आपको यहाँ मुझे कब्र के लिये जगह देनी पड़ेगी। —वही, पृ० ५८८।

परन्तु देखिए तो विधि की विडम्बना अथवा अंगरेजों का भाग्य कि न तो न्हें उक्त मौलाना मुहम्मद अली को 'आजादी का परवाना' देना पड़ा और न ब्र के लिए जगह।' हाँ, अवश्य ही मौलाना मुहम्मद अली ने मर कर यहीं खा दिया कि भारत के सपूत सचमुच किस आन के जीव होते हैं और किस कार अपनी पैज पर प्राण निछावर कर जाते हैं।' किन्तु क्या उनके साथियों ने स महत्व को समझा? आज यदि मुहम्मद अली का मकबरा अंगरेजों के 'आजाद' र में होता और उस पर उनका यही संकल्प खुदा भी होता तो उसे देख कर कसी भारतीय हृदय पर क्या प्रभाव पड़ता और उसे पढ़ कर हृदयालु वीर कितना प उठता इसे कोई भी सहृदय समझ सकता है'। पर हमारे वीर देशबन्धुओं ने केया क्या? उस धुरीण आत्मा की पुकार को ठुकरा कर उसे उठाकर सुला दिया स भूमि में जो उन्हीं अंगरेजों की 'गुलामी' में पिस रही है और जिसकी 'आजादी' न पी पीकर तड़प रही है। क्यों? कारण उन्हीं के ज्येष्ठ भ्राता मौलाना शौक़त-मली के मुँह से सुनिए—

हिन्दुस्तान लाते थे। मगर फिलस्तीन का तजकिरा अब्दुल रहमान सेद्दीकी साहब ने किया था और बाद को मुफ्ती आजम की दावत और तमाम बिरादराने वतन की दावत पर मसजिद (यरूशेलम की मजजिद) अकसा में दफ़न का क़स्द निश्चय किया गया ताकि हिन्दुस्तान के मुसलमानों के ताल्लुक़ात बिरादराने अरब से वाबस्ता हो जाएँ।

—मौलाना मुहम्मदअली के यूरोप के सफ़र, किताबख़ाना पंजाब, लाहौर, सन् १९४१ ई०, के अन्त में मौलाना शौकतअली का पत्र, पृ० २२८।

सोचने, विचारने और समझने की बात है कि यदि, जीते-जागते 'इसलाम' के द्वारा 'बिरादराने अरब से' संबंध नहीं जुट सकता तो क्या मरे-गड़े मुहम्मद अली के द्वारा यह कार्य सम्पन्न हो सकता है? यही क्यों जब हिन्द के मुहम्मद अली लंदन में मर कर यरुशेलम में दफन होने के लिए पहुँच जाते और वहाँ की थोड़ी सी भूमि घेर लेते हैं तब देशदेशान्तर के यहूदी क्यों न जीते जी अपनी पुण्य भूमि में पहुँच जायँ और अपनी आदि भूमि की रक्षा के लिए मर मिटने को

तैयार हो जायें ! यह सच है कि मुहम्मद अली की रगों में भी वही खून है जिससे लार्ड रीडिंग की रगें बनी हैं। परन्तु यह उससे भी अधिक सत्य है कि इसी न्याय की दृष्टि से युरुशेलम पर जो अधिकार लार्ड रीडिंग का है वह मौलाना मुहम्मद अली का कदापि नहीं। जब स्वयं मुहम्मद साहब ने युरुशेलम को छोड़ कर मक्का को अपना पुण्यधाम बनाया और सभी मुसलिम उसी ओर मुँह कर अल्लाह की आराधना में लीन हुए तब युरुशेल्म का मोह कैसा ? नहीं, कोई भी विवेकी उनके इस विचार का प्रतिपादन नहीं कर सकता और न यह मान ही सकता है कि यदि हिन्दी मुहम्मद अली का युरुशेल्म पर अधिकार है तो किसी भी यहूदी का उनसे कहीं अधिक उसपर क्यों नहीं। मुसलमानी एकता का घर अल्लाह का घर काबा है युरुशेल्म कदापि नहीं। युरुशेल्म तो सदा से यहूदियों और मसीहियों का ही खुदाई अड्डा रहा है और फलतः आज होना भी चाहिए। कदाचित् यही कारण है कि अरब भी उनके इस मजहबी दावा को मान गये थे और देशदेशान्तर के यहूदी अपने मूल देश में आ चले थे। किन्तु राजनीति की भूलभुलैया में आ जाने के कारण अरब और यहूदी परस्पर भिड़ गये और उस आग को हवा देने के लिए पहुँच गये मर कर हमारे देश के अभिमान मौलाना मुहम्मद अली साहब। आन तो थी आजादी की, पर मर जाने पर भी नसीब हुई गुलामी की पाकभूमि। धन्य है वह हिन्दी मुसलमान जो अपने वीर की आत्मा को इस प्रकार कुचलता और उसके सो जाने पर उसके साथ ऐसा कुचक्र रचता अथवा निपुण व्यवहार करता है ! हमारा वह शेर मुहम्मद अली कहाँ है ? हिन्द नहीं, फिलस्तीन में। उसी फिलस्तीन में जहाँ अँगरेजों की आजादी खून बरसर ही है और कोई गुलामों की सुनता तक नहीं है। लार्ड रीडिंग के यहूदी और मौलाना मुहम्मद अली के मुसलमान परस्पर क्या नहीं करते ? यह खून का असर है या देश का प्रताप ? अँगरेजी शासन को तो कुछ कहा नहीं जा सकता। इससे उत्तम स्थान कहाँ मिलता जहाँ मुहम्मद अली की कब्र बनती और उससे इङ्गलैण्ड का हित होता ? बस, इसी से जान लीजिए कि हिन्दी मुसलमान की दृष्टि किधर और कैसी है ? सच है अर्थी दोष नहीं देखता नहीं तो मुहम्मद अली की समाधि विदेश में क्यों बनती ? सो भी 'गुलाम' देश में, परतन्त्र और विवश फिलस्तीन में। क्या 'हजाज' की धलि इसके

लिए उत्तम न थी ? हाँ, निश्चय ही वहाँ शामी और ईराकी न थे और ये भी तो कट्टर 'सऊदी' आजाद अरब, जो शायद दावत क्या हाथ भर जगह भी न देते।

किसी के आँख मूँदने पर कोई कुछ भी करे उससे उसका क्या प्रयोजन ? परन्तु इतना तो निर्विवाद है कि स्वर्गीय मौलाना मुहम्मद अली अपने जीवन में जो कुछ करना चाहते थे, वह था—

'लेकिन जो काम अब (१२४-१९२९) मैंने सारी उम्र के लिए अपने लिए तजवीज कर लिया है ख्वाह वह देहली में बैठकर किया जाय या कहीं और जाकर, वह पहले मुसलमानों में और फिर सारी दुनियाँ में फिक्र इसलामी पैदा करने और कुफ्र व इलहाद के (नास्तिकता) इस सैलाब के (बाढ) मुकाबला करने का है जो यूरोप से वतनपरस्ती और जिंसियत (ज्ञातीयता) व कौमियत की शक्ल में उमँड़ा आ रहा है और और जो तुर्की और ईरान, शाम और इराक ही में नहीं बल्कि अफगानिस्तान और हिन्दुस्तान में भी नवजवान मुसलमानों को खुदा और आखिरत दोनों से इनकार की तरफ मायल (प्रवृत्त) कर रहा है। इसलाम हरगिज हुब्बेवतन (देशप्रेम) और गैरमुसलिमों के साथ आजादी और हुरियत (स्वाधीनता) और बनी (वश) नुअ्म (जाति) इनसान की खिदमत में तआऊन (सहयोग) करने के बरखिलाफ (प्रतिकूल) नहीं, और इस माने में हर मुसलिम को मुल्कपरवर (देश पालक) और मुहिब्ब वतन (देशप्रेमी) बनना लाजिमी है और खुदा न करे कि वह दिन आये कि मुसलमान हिन्द अपनी मौजूदा गुलामी पर राजी हो जायें या अपने गैरमुसलिम भाइयों से नफरत को अपने दिलों मे जागजीं (स्थानापन्न) होने दें और उनके साथ जरासी भी नाइन्साफी को खार करने लगें। लेकिन कोई मुसलिम इस हुब्बे वतन और जिंसियत व कौमियत का हरगिज कायल नहीं हो सकता जो अरब को अजम से तुर्क को ताजिक से, या हिन्दी को अफगानी से जुदा करे। —मजामीन मुहम्मद अली, वही पृ० १६१-२।

इसमें तो सन्देह नहीं कि यदि उक्त मौलाना साहब 'कोई मुस्लिम' के पहले, नहीं-नहीं 'कोई' और 'मुस्लिम' के बीच में कोई विशेषण धर देते तो उनका पक्ष स्पष्ट हो जाता और किसी को यह कहने का भ्रम न होता कि आखिर तुर्की, ईरान, शाम और इराक में भी तो मुसल्मान ही हैं जो उसी वतनपरस्ती की पैरवी में लगे हैं जिसके विरोध में अब आप कमर कस कर खम ठोक रहे हैं। किन्तु नहीं, मौलाना साहब ऐसा कुछ नहीं करते और उन्हें सिरे से 'मुस्लिम' कहना ही नहीं चाहते। इनके 'मुस्लिम' का संकेत तो कुछ और ही है। कुछ भी हो, किन्तु किसी भी मौलाना को यह अस्वीकार न होगा कि इसलाम के उदय से पहले भी अरब अजम से और तुर्क ताजिक से अलग थे, उसमें भी अलग रहे और उतने बाद भी अलग रहेंगे। बाद में न सही, अब तक की स्थिति तो यही है। आगे की मुहम्मद अली का इसलाम जाने।

यह सच है कि इसलाम में मुल्क या वतनपरस्ती नहीं है पर इसी के आधार पर यह दावा पेश करना कि इसलाम में किसी प्रकार का भेदभाव ही नहीं है, उसके इतिहास के सर्वथा विपरीत है। हम पहले ही देख चुके हैं कि रसूल रसूल को इसमाइल-वंश की जितनी चिन्ता थी अन्य की कदापि नहीं! बात यह है कि अरब सदा गतिशील रहे हैं। गाँव या नगर बसा कर रहना उन्हें नहीं भाता। किसी भी भ्रमणशील जाति का अपने कुल से जो लगाव होता है वह किसी भूभाग से कदापि नहीं। हो भी कैसे? कहीं जमकर तो उससे रहा नहीं जाता। यही कारण है कि इसलाम के चल निकलने पर भी उसमें वंश द्वन्द्व बना रहा और धीरे धीरे घुन के रूप में उसके साथ बढ़ता रहा और फिर करबला के मैदान में वह जौहर दिखाया कि आज तक इसलाम उसको भूल न सका और आये दिन किसी न किसी रूप में उसका रूप उतारता रहता और निश्चित रूप में प्रति वर्ष उसका अभिनय भी करता रहता है। परन्तु सच पूछिए तो करबला का हत्याकांड भी और कुछ नहीं, वंश विवाद का ही वृहद् परिणाम था पट्टी का झगड़ा था। उमय्या-वंश ने हाशिमी, और उसका जी खोल कर कचूमर निकाला, वंश को धर दबाया यही तो करबला का इतिहास है? फिर इसे अन्यथा क्यों देखा जाय? अरबों का इतिहास अरब-दृष्टि से देखिए तो पता चले कि इसलाम में

'खून' का कितना हाथ रहा है और कहाँ तक आज भी वह उसी का साथ दे रहा है।

उमय्या और हाशिम के घरानों के विरोध के प्रसंग में भूलना न होगा कि मुहम्मद साहब के पितामह—

अब्दुल मतलब की मौत ने बनू हाशिम के रुतबाय इम्तयाज (महत्त्व की प्रतिष्ठा) को दफ़ातनत (सहसा) घटा दिया और यह पहला दिन था कि दुनियवी इक्तिदार (गौरव) के लेहाज से बनू उमय्या का खानदान बनू हाशिम पर गालिब (विजयी) श्रा गया। अब्दुल मतलब की मसनद रियासत (राज्यगद्दा) पर अब हरब मुतमक्किन (अधिष्ठित) हुआ जो उमय्या का नामवर फरजन्द (पुत्र) था। मुनासिब रियासत में से सिर्फ सकायत याने हुज्जाज को पानी पिलाना अब्बास के हाथ में रहा, जो अब्दुल मतलब के सबसे छोटे बेटे थे।

—मीर तुलनबी, हिस्सा अव्वल, मुजल्लिद अव्वल, १३३६ हि०, पृ० १६५।

मुहम्मद साहब के उदय से हाशिमी कुल को जो महत्त्व मिला उसे कौन नहीं जानता ? पर उनके आँख मूँदने पर खिलाफत जो अबूबकर को मिली तो इतना अच्छा हुआ कि 'उमय्या' और 'हाशिम' का द्वन्द्व दबा रह गया और फिर तब उठा जब उमर के बाद उसमान खलीफा हुए। उसमान उमय्या के प्रपौत्र थे, उनके खलीफा होने का परिणाम यह हुआ कि इसलाम घरेलू झगड़े में पड़ गया और फिर कभी उससे मुक्त न हुआ। करबला का हत्याकाड इसी घरेलू झगड़े का कुफल था। यजीद को कोई हत्यारा भले ही कह ले पर वस्तुत उसने अरब-खून के प्रतिकूल कुछ भी नहीं किया। अरब आज भी कुल की कानि पर जितने आरूढ़ हैं उतने इसलाम पर नहीं। हाँ, आज उनकी दृष्टि 'पश्चिम' के प्रताप से कुछ फैल अवश्य गयी है और फलत आज 'इत्तहाद अरब' ने 'इत्तहाद इसलाम' को सदेह मी दिया है। 'इत्तहाद अरब' अब अरब को लेकर खड़ा हुआ है कुछ इसलाम को ले कर नहीं, और अरब के भीतर ही अपना रग जमा रहा है कुछ समस्त विश्व में नहीं। संक्षेप में उसकी स्थिति यही है।

सुलतान इब्न सऊद इन तमाम उमूर (कार्यों) को शिद्दत (कड़ाई) के साथ महसूस करते हैं। इसीलिए वह तमाम उमराय (अमीरों) अरब को मुत्तहिद (एकत्र) करना चाहते हैं और उसमें वह निहायत ख़ुलूस (सचाई) से कोशाँ हैं ताकि अरब में कोई ख़तरनाक अजनबी इक़्तिदार (शक्ति) क़ायम न कर सके। इत्तहाद अरब के लिए उन्होंने मुख़्तलिफ़ सूरतें पेश कीं। एक तो यह कि तमाम फ़रमाँरवायाने (शासकों) अरब की कांफ्रेंस हो और वह सब उनको जजीरतुल अरब (अरब द्वीप) का बादशाह तसलीम करें, क्योंकि उनके नज़दीक इस मनसबे दलील (उच्च पद) का उनसे ज्यादा कोई अहल (अधिकारी) नहीं है। लेकिन अगर उमराय अरब उनके अलावा किसी दूसरे शख़्स को मुन्तख़िब करेंगे तो उनको इसके तसलीम करने में ताम्मुल (संकोच) न होगा और उसके बाद भी यह अरब के फ़लाह (उत्कर्ष) व बेहबूद उपकार में कोशाँ रहेंगे। और अगर यह सूरत भी न हो सके और कोई ऐसी तीसरी शक्ल पर इत्तफ़ाक़ (एकमत) हो जो सबके लिये मुफ़ीद हो तो उसको क़बूल करने में भी उनको उज्र न होगा। मसलन् आपस में कोई इस क़िस्म का मोमाहिदा (समझौता) हो जाए जो उमराय 'अरब' के इन्तज़ामी या सयासी (राजनीतिक) उमूर के मुताल्लिक़ हो या मुशतरक एक्तसदासी (आर्थिक) मसायल के तहफ्फ़ुज़ (संरक्षण) पर मुशतमिल (निर्भर) हो तो वह इसको निहायत ख़ुशी से क़बूल करेंगे और अगर इन शक्लों में कोई भी न हो सके तो कम अज़ कम यह ख़ुद अपने सयासी मुक्तजियात (आवश्यकताओं) के मुवाफ़िक़ हर उस सलतनत के साथ जिसका और उनका मुफ़ाद (लाभ) मुशतरक होगा मोआहिदा (सन्धि) करने में ताम्मुल (आनाकानी) न करेंगे। लेकिन इसका मक़सद किसी को मुख़ालिफ़त न होगा। क्योंकि सुलतान एक सुलहपसन्द आदमी हैं। अलबत्ता वह यह ज़रूर चाहते हैं कि उनपर भी किसी क़िस्म ज्यादती न होने पाये। लेकिन अरबों के किसी मोआमिला में भी अँगरेज़ों की सालसी (पंचायत) पसन्द नहीं करते। वह यह कहते हैं

कि इनकी सालसी इखतलाफ़ की ख़लीज (विरोध की खाड़ी) और ज्यादा वसीअ कर देती है। अगर दो शयूख़ (शेखों) के हुदूद (हदों) में कोई ऐसा एख़तलाफ़ हो जो मुल्की आदमी के जरिआ से बआसानी ते हो सकता है और उसमें अंगरेज सालिस बन जायें तो उनका पोलिटिकल एजंट इस एख़तलाफ़ को इस दरजा तक पहुँचा देगा कि फिर सुलह नामुमकिन हो जायगी।—अरब की मौजूदा हुकूमतें वही, पृ० ५०-१।

अंगरेजों की जिस कूटनीति से सुल्तान इब्न सऊद बच कर रहना चाहते हैं उसका एक नमूना यह है कि उनके देखते-देखते शरीफ़ हुसैन का उत्थान और पतन हो गया पर उनके परम मित्र अंगरेज जहाँ के तहाँ रह गये। सचमुच अंगरेज ऐसे खिलाड़ी नहीं जो किसी की हारजीत से विचलित हो अपने लक्ष्य से भ्रष्ट हो जायँ और बिना हैरान किये किसी को साँस लेने का अवसर दें। सच है कि अरब-उद्धार की नीव उसी दिन पड़ गई जिस दिन सन् १८४७ ई० में कुछ अरब ईसाइयों ने मिल कर अमरीकी पादरियों के उकसाने पर बैरुत में एक शिक्षा-सघ स्थापित किया, और यह भी सच है कि उसी बैरुत में सन् १८७५ ई० में एक गुपचुप संस्था भी बन गयी जो अरबोद्धार के लिए लुक छिप कर भीतर ही भीतर काम करने लगी, और यह भी सच है कि सन् १८८० ई० में स्वतन्त्रता का दृढ़ सङ्कल्प भी परस्पर कर लिया गया और उसकी पूर्ति के लिए सन् १९११ ई० में पेरिस में 'अलफ्तिात' संघ भी स्थापित कर लिया गया और यह भी सच है कि सन् १९१४ ई० में 'अलअहद' की स्थापना भी हो गयी जिसकी शाखाएँ बगदाद और मोसल तक पहुँच गईं; पर यह सच नहीं कि अरब की क्रान्ति में 'शरीफ़' हुसेन का अपना हाथ नहीं, वह केवल अँगरेजों का इशारा है। नहीं, शरीफ़ हुसैन और उनके निपुण पुत्र अमीर फैसल ने अँगरेजों को भी दिखा दिया कि अरब कुछ सोचते और समझते भी हैं, केवल लोहा लेना और छापा मारना ही नहीं जानते परन्तु करते क्या? लोहा को काटने के लिए उनके पास पर्याप्त लोहा कहाँ था? निदान झुके, पर कौन कह सकता है कि कयामत के दिन भी उन्हें अपने काम के लिए अगरेजों के सामने झुकना ही होगा और वहाँ भी कोई किसी के मात बनाने में आ जायगा। जो हो, लिखा तो यह जाता है कि—

जंग में तुर्क अँगरेजों के खिलाफ़ लड़ रहे थे और चूँकि तुर्की उस ज़माने में खिलाफ़ते उसमानिया का मरक़ज़ (केन्द्र) था इसलिए अंगरेजों को खतरा था कि कहीं उनकी मक़बूजात (अधीनता) के मुसलमान तुर्की की हमदर्दी में उनके खिलाफ़ न उठ खड़े हों। साथ ही वह मशरिक (पूर्व) में मिश्र से लेकर अरब और ईरान होते हुए हिन्दुस्तान तक एक नई सलतनत क़ायम करने का ख्वाब भी देख रहे थे। इसके लिए उन्हें हुसैन से बेहतर आदमी नहीं मिल सकता था। हुसैन न सिर्फ शरीफ़ मक्का थे बल्कि आँ हज़रत (मुहम्मद साहब) की औलाद में होने की वजह से तमाम दुनिया के मुसलमानों पर उनकी इज्ज़त करना वाजिब था और उनकी बात का हर जगह (आदर) एहतिराम किया था। इसलिए अंगरेज उनसे पेंग बढ़ाने लगे और उनके ज़ज़बये क़ौमियत (जातीय आवेश) को हवा देकर उन्हें तुर्की के खिलाफ़ खड़ा कर देने की कोशिश शुरू कर दी। उनकी इस मुहिम (घेरे) में यों तो बहुत से मुदब्बिर (कूटज्ञ) शामिल थे मगर सबसे ज्यादा जिस शख्स ने काम किया वह कर्नल लारेंस था। कर्नल लारेंस एक फ़ौजी बनकर नहीं, बल्कि आसार क़दीमा (पुरातत्त्व) के माहिर (ज्ञाता) की हैसियत से अरब गये और वहाँ अपनी चालाकियों की बदौलत उन्होंने ऐसा रूप भरा कि अरब उन्हें अपना आदमी समझने लगे और शरीफ़ हुसैन और फैसल तक उनके कहने में आ गये। अरब मुसलमान ईसाइयों से और खासकर अंगरेज़ ईसाइयों से सख्त नफ़रत करते थे मगर कर्नल लारेंस की अरबी पोशाक और अरबों जैसे तौरतरीके के सामने उनके दिल से यह नफ़रत दूर हो जाती थी और वह कर्नल लारेंस को दुनिया के दूसरे ईसाइयों से मुख्तलिफ़ और अपना सच्चा हमदर्द ख्याल करने लगते थे। अगर अँगरेज अपने सफ़ीरों (दूतों) के ज़रिए शरीफ़ हुसैन से बातचीत करते तो इसमें शक नहीं कि वह अपने रुपये के ज़ोर से शरीफ़ हुसैन को अपने साथ ले आते लेकिन इसकी क्या जमानत थी कि अरब अवाम (सामान्य) भी शरीफ़ हुसैन के साथ ही रहते ? यह कर्नल

लारेंस ही का कारनामा था कि उन्होंने अँगरेजों की हिमायत में सुलतान तुर्की के खिलाफ़ उनको बगावत पर आमादा कर दिया।'

—मुमालिक इसलामिया की सयासत, मकतबा जमिया, देहली, १६४० ई०, पृ० ८१–८२।

किन्तु इस प्रसग में भूलना न होगा कि कर्नल लारेंस का पदार्पण अक्टूबर सन् १९१६ ई० में हुआ और शरीफ हुसैन की रणभेरी ५ जून सन् १९१५ में बजी। सच तो यह है कि 'इत्तहाद इसलाम' से टूट जाने के कारण हिन्द के मुसलमान 'शरीफ हुसैन' को आदर की दृष्टि से नहीं देखते और निपुण अँगरेज भी अपना दोष छिपाने के लिए पूरी बात सामने नहीं आने देते। नहीं तो स्पष्ट हो जाता कि लार्ड किचनर के प्रयत्न से लेकर अन्त तक शरीफ हुसैन ने 'इत्तहाद अरब' का जो पक्ष लिया और जिस दृढ़ता से इस पर अड़े रहे यह उसी का परिणाम था कि उन्हें राज्य से हाथ धोना पड़ा और गिरी पड़ी ठुकराई हुई खिलाफ्त से भी। उनके उपरान्त खलीफा तो कोई नहीं बना, पर 'खिलाफ्त' आज भी यत्र-तत्र कराह रही है। सचमुच यदि शरीफ हुसैन चुप-चाप अँगरेजों की मनमानी मान लेते और अपनी मनचीती पर अड़े न रहते तो कभी उनके 'दादा' की भूमि पर सऊदी शासन न होता और कुशल कौतुकी अँगरेज भी उनके साथ होते और उनकी खिलाफ्त की अपनी ओर से न सही अपनी प्यारी मुसलिम प्रजा की ओर से उसकी रक्षा करते और यह कह कर कभी साफ निकल न जाते कि यह तो मजहबी प्रश्न है। इसमें हम क्यों पड़ें? स्वय 'शरीफ' और 'सऊदी' आपस में लड़भिड़ कर इसका निपटारा कर लें। कारण कि उन्हें इसकी बड़ी चिन्ता थी और उस समय से इसकी टोह में लग गये थे जिस समय उनके कान में सुल्तान खलीफा अब्दुल हमीद के 'इत्तहाद इसलाम' की भनक पड़ी। उसी समय उनके जी में आया कि इस इसलामी जोड़ की तोड़ भी कोई इसलामी ही होनी चाहिए। लीजिए १३ सितम्बर सन् १८८३ की बात है। ब्लट साहब शेख जमालुद्दीन अफगानी के बारे में अपनी दिनचर्या में लिख रहे हैं—

'उन्होंने मुझे मशविरा (परामर्श) दिया कि मैं सुल्तान के खिलाफ कुछ न कहूँ, न खिलाफ़ते अरबो के मुतअल्लिक कुछ कहूँ। यह मशविरा

किया जा रहा है कि अँगरेज अरब में एक मनसूई (बनावटी) खिलाफ़त एक बच्चा की सयादत (अगुआई) में कायम करना चाहते हैं ताकि इस ज़रिआ से वह मसाकिन मुक़द्दसा (पवित्र स्थानों, मक्का और मदीना) पर क़ाबिज़ हो जाएँ।

—आसारे जमालुद्दीन अफ़ग़ानी, अंजुमन तरक्की उर्दू, देहली, सन् १६४० ई०, पृ० १८१।

तो हुसेन शरीफ और खिलाफ़त के सम्बन्ध में इतना और स्मरण रखना होगा कि वही ब्लन्ट साहब ८ अक्तूबर को फिर लिखते हैं—

जमालुद्दीन से कुसतुनतुनिया के हालात के मुताल्लिक़ गुफ्तगू हुई और खिलाफ़त के मुताल्लिक भी उनकी राय यह है कि महदी या महदी के जानशीन (उत्तराधिकारी) या शरीफ अवन को सुल्तान की जगह खलीफा बनाया जाय या इमामसना को। मगर कुसतुनतुनिया मरकज़े खिलाफत न रहे। उन्होंने कहा कि मैंने खुद शरीफ़ हुसेन से कहा था कि ख़िलाफ़त का दावा करें मगर हुसेन ने कहा कि बगैर फौज के दावा बेकार है और अरबों का मुत्तहिद होना मुश्किल है।

—वही पृ० २०४।

परन्तु सैयद जमालुद्दीन ने शरीफ हुसैन से जो कुछ कहा वह भीतर ही भीतर सुलग रहा था कि खलीफा सुलतान अब्दुल हमीद को उसकी गंध मिली और उन्होंने बड़े सम्मान और आवभगत के साथ उन्हें सपरिवार अपना अतिथि बनाया और गुप्तचरों को उनके पीछे छोड़ दिया। होने को तो शरीफ हुसैन सुल्तान के आदरणीय बन्दी हो गये और खिलाफत के लिए स्वतन्त्र रूप से कुछ भी न कर सके, किन्तु इससे उनका बड़ा लाभ यह हुआ कि सल्तनत की जोड़तोड़ से भली-भाँति परचित हो गये और जब उन्हें सुल्तान के पदच्युत हो जाने पर अपने देश का अधिकार मिला और वे हजाज के विषयपति बने तब उनको इत्तहाद अरब की सूझी और फिर तो [illegible] ...न तुर्क चित्त पड़ गये और अरब आज़ाद हो गये। [illegible] गयी। अँगरेजों से न निभी। उनको समस्त अ[illegible] ...मन-तन्त्र प्रबन्ध अधिकार की

कामना। फ्रांसीसियों का प्रश्न अलग था। बातचीत चलती रही कि तुर्की में काया पलट हुई। खलीफा अब्दुल हमीद की चालने खिलाफत और उसमानी राज्य को खोखला बना दिया था। राष्ट्रजीवन के इन काँटों का अन्त जब सन् १९२४ ई० में गाजी मुस्तफा कमाल के हाथों हो गया और खलीफा की गद्दी सूनी पड़ गयी तब बेटे के कहने में आकर शरीफ खलीफा बन बैठे। पर 'बगैर फौज के दाना बेकार' गया। इब्न सऊद की बन आयी और उन्होंने चढ़ाई कर खलीफा का अपना राज्य भी ले लिया। खलीफा हुसैन ने सोचा कि अगरेज अपने कथनानुसार खिलाफत के सहायक होंगे, परन्तु उधर से कोरा जवाब मिला कि हम मजहबी प्रश्न में नहीं पड़ते। परिणाम यह हुआ कि खिलाफत का अन्त हो गया। आज इब्न सऊद को इसलाम की जैसी चिन्ता है वैसी किसी उसमानी खलीफा को कब थी? पर वह अपने आपको खलीफा नहीं कहते। कारण वही आवश्यकता है जो स्वर्गीय गाजी मुस्तफा कमाल के सामने थी। भला जिसका शासन अपने सारे देश पर भी नहीं है वह अपने आपको समस्त मुसल्मि संसार का शासक कैसे मान ले?

सैयद जमालुद्दीन सा मुसल्मि एका का पुजारी सुलतान अब्दुल हमीद की खिलाफत का विरोधी क्यों था और क्या किसी अरब को खलीफा बनाना चाहता था, इसका उत्तर इसके अतिरिक्त भला और क्या हो सकता है कि—

१९वीं सदी के निस्फ अव्वल (पूर्वार्द्ध) में नेशनलीजम (राष्ट्रीयता) की तहकीकात अव्वल मिस्र से और उसके चन्द ही रोज बाद मुल्क शाम से शुरु होती है। १९वीं सदी के निस्फ आखिर (उत्तरार्द्ध) में नेशनलीजम के खदव खाल (खड्ड न खाई) ज्यादा नुमाया (प्रकट) हुए। अरबों की यह इब्तदाई तहरीक (आन्दोलन) तुर्की एकतिदार (मर्यादा) खिलाफ था और उसमें नसली एखतलाफात (वंशगत विरोध) और वतनी एहसासात (भावनाओं) का बहुत कुछ दखल था। सन् १८७७ में तुर्की पर रूस के हमलों के बाद इस तहरीक ने जोर पकड़ा और हम देखते हैं कि अरबों के तमाम इलाके और सूबे, अपनी खुदमुख्तारी और आजादी के लिए कोशाँ हो गये। कहीं इस तहरीक का असास

(भाव) 'वतनियत' था और कहीं नस्ल। मगर ज़्यादातर वतनि
था। सुलतान अब्दुल हमीद ख़ाँ ने अपनी तहरीक इत्तहाद इसल
के ज़रिया से इन क़ौमपरस्तों को मुतमय्यन (विश्वस्त) करना च
लेकिन वह मुतमय्यन न हो सके। बहुत से अरब क़ौमपरस्त, जो श
में तुर्की हुक्काम (हाकिमों) की सख़्तगीरी से बचकर भागे थे, मिस्
जमा हो गये और इस अम्र की शहादतें (साखियाँ) मौजूद हैं
वह शेख़ से (सम्बन्ध) रवाबित रखते थे। ख़ुद शेख़ मिस्र में क़ौ
यत और वतनियत ही की बुनियाद पर काम कर रहे थे। और उन
तहरीक ने जिन लोगों को मैदान में भेजा वह सब वतनपरस्त श्र
क़ौमपरस्त थे, और उनकी जद्दोजहद (मुठभेड़) में अक़लिय्यत (अलपर
या अकसरिय्यत (अधिकता) और मुसलमान और ईसाई का इम्तया
(भेद) कभी पैदा न हो सका। अरबी पाशा की तहरीक का तो नारा ही र
था कि 'मिस्र मिस्रियों के लिए'। उनके बाद मुस्तफ़ा कामिल और जा
लूल पाशा की जद्दोजहद का आसास भी वतन की आज़ादी का सवा
था। इसी तरह ईरान में भी शेख़ की जमाअत सब वतनपरस्त मुख़
लिफ़ (प्रतिकूल) एसतिबदाद (एकतन्त्रता) और आज़ादीतलब थी
तुर्की में भी उनके शुरकायकार (कार्य के साथी) सब यह अहरार
जो वतनी मुफ़ादात (देशी लाभों) की हिफ़ाज़त करना चाहते थे औ
जहाँ तक मेरा मुताला (अनुशीलन) मेरी मदद करता है शेख़ भी सुलता
अब्दुल हमीद ख़ाँ के तसव्वुरात (स्वप्नों) के हामी (पोषक) न थे, बल्कि
सिर्फ़ यह चाहते थे कि कोई मरकज़ ऐसा पैदा करें जिसपर इसलाम
वहदतों (एकाकियों) का एक विफ़ाक़ (संघ) क़ायम हो जाय। अतातु
की वतनी तहरीक के सरसब्ज़ होने के बाद मोआहिदाय (सन्धियाँ
सादाबाद (स्थान विशेष) शेख़ के इसी ख़्वाब की ताबीर (व्याख्या
है जो यह आज़ाद इसलामी मुमालिक के दरमियान एक सियासी रिश्त
पैदा करने का देखा करते थे। उन तमाम मुल्कों में जहाँ शेख़ ने काम
किया वतनियत के जज़्बा की वह पूरी ताईद करते रहे।

मिस्र में तो सुलूसियत के साथ उन्होंने और उनके जानशीनों (उत्तराधिकारियों) ने कुतनी और मिस्री अमासिर (तत्त्वों) को वतनियत ही की बुनियाद पर मुत्तहिद (एकत्व) किया था। चीन में भी जहाँ करोड़ों वतनपरस्त चीनी मुसलमान आबाद हैं एक मुत्ताहिदा चीनी कौमियत का जो जो शानदार मुजाहिरा (उल्लास) आज हम देख रहे हैं उसकी असल चीनी तुर्कीस्तान के वतनपरस्तों की जद्दोजहद है। उन लोगों के लिए जो वतनियत की बुनियाद पर किसी कौमपरस्ती के कायल नहीं सबसे ज्यादा मुअस्सिर (प्रभावपूर्ण) जवाब चीनी मुसलमानों का वजूद है जो आज अपने वतन की इज्जत और आजादी के लिए मैदाने जग में दुश्मनों का मुकाबला कर रहे हैं।

—आसारे जमालुद्दीन अफगानी, वहा, पृ० सीन० ऐन० के०।

ध्यान देने की बात है कि श्री काजी मुहम्मद अब्दुल गफ्फार साहब ने इस प्रसग में कहीं भूल कर भी हिन्द और अफगानिस्तान का नाम नहीं लिया है, हालाँ कि शेख जमालुद्दीन स्वय अफगानी थे और हिन्द में कई बार आये भी थे। हिन्द के लिए उनका अन्तिम सन्देश सभवतः यह है—

तुम उस सरजमीन के होनहार हो जो एक जमाना में कवानीन (कानून, विधान) और आदाब (विनय) के लिए शुहराय आफाक (दिगन्त ख्यात) थी। और दुनियाँ उन उमूर में उसकी खोशाचीनी अनुकृति करती थी। मसलन् कवानीन मिल्लते रूमा (कोड़रूमा) को देखा जो तमाम फिरगी कोडों की माँ कहलाती है। उसके अक्सर अकवाल (आदेश) तुम्हारे चारो वेदों और शास्त्रों से लिये गये हैं। इसी तरह शेरोसुखुन (पद्य और वार्ता) और फिलसफ़ा में तुम्हारे असलाफ़ (पूर्वज) का वह दरजा था कि यूनानियों ने उनकी शागिर्दी की। मसलन् एक नामीगिरामी शागिर्द फीसागोरस गुजरा है जिसने यूनान में इल्म व मोआरिफ (ज्ञान) के वे सब फूल बखेरे जो उसन हिन्द के गुलशने उलूम (विद्या-वाटिका) से चुने थे। खाके हिन्द वही है और तुम नवजवान जो अब मौजूद हो उसी मिट्टी और पानी के बने हुए

हो। मेरे लिए यह बाइसे मुसर्रत (आनन्द का कारण) है कि तुम ख्वाबेगिरा (भारी स्वप्न) से बेदार (सचेत) होकर अपने आबा व अजदाद (बापदादों) के वरसा (दाय) की जानिब रुजूअ (तन्मय) और उनके बोये हुए दरख्तों के फल चुनने के लिए कमरबस्ता (कटिबद्ध) हो गये हो। —वही, पृ० १४७ ४८।

प्रतीत होता है कि यह इसी सहज मुशिदा का असर था कि कभी पाकिस्तानी शेख मुहम्मद इकबाल ने भी लिखा था—

यूनानियों को जिसने हैरान कर दिया था,
सारे जहाँ को जिसने इल्मो हुनर दिया था।
मिट्टी को जिसकी हक ने जर (सोना) का असर दिया था,
तुर्कों का जिसने दामन हीरों से भर दिया था।
मेरा वतन वही है, मेरा वतन वही है।

इतना ही नहीं अपितु—

टूटे थे, जो सितारे फारस के आसमाँ से,
फिर ताब देके जिसने चमकाये कहकशाँ (छायापथ) से,
वहदत (एकता) की लै सुनी थी दुनियाँ ने जिस मकाँ से,
मीरे अरब (मुहम्मद साहब) को आई ठंढी हवा जहाँ से।
मेरा वतन वही है, मेरा वतन वही है।

—बाँगेदरा, १६३० ई०, पृ० ८७।

किन्तु आज वह हिन्दुस्तानी बच्चों का कौमी गीत कहाँ गया? आज तो सर मुहम्मद इकबाल का फतवा है—

इस दौर (फेर) में मैं (शराब) और है जाम (प्याला) और है जम (जमाव) और साकी ने बना की रविशे लुत्फ व सितम और मुसलिम ने भी तामीर किया अपना हरम (पूजास्थान) और, तहजीब के आजर (इब्राहिम के पूर्वज) ने तरशवाये सनम (मूर्ति) और। इन ताजा खुदाओं में बडा सबसे वतन है। जो पैरहन (परिधान) इसका है वह मजहब का कफन है।

यह बुतकि तराशिदाये तहजीबे नुनी (नबी मुहम्मद के सभ्यतानुसार निर्मित) है, ग़ारतगरे (लुटेरे) का शानये (कषो) दीने नववो है। बाजू तेरा तौहीद की क़ूवत से क़वी है। इसलाम तेरा देश है तू मूसतफ़वी (मुहम्मदी) है।

नज्जाराये (दृश्य) देरीना (पुराने) जमाने को दिखा दे।
ऐ मुस्तफवी ! खाक में इस बुत को मिला दे॥
हो कैदे मुक़ामी (देशभक्ति) तो नतीजा है तबाही।
रह वह्रे (समुद्र) में आजादे वतन सूरते माहो (मछली)॥
है तर्के वतन (देश का त्याग) सुन्नते महबूबे इलाही।
दे तू भी नबूवत की सदाकत व गवाही॥
गुफ्तारे सियासत में वतन और ही कुछ है।
इरशादे नबूवत में वतन और हा कुछ है॥
अकवामे जहाँ में है रकावत तो इसी से।
तसखीर (विजय) है मक़सूदे तिजारत तो इसी से॥
खाली है सदाक़त से सियासत तो इसी से।
कमजोर का घर होता है गारत तो इसी से॥
अक़वाम मे मख़लूके (सृष्टि) ख़ुदा बटती है इससे।
क़ौमीय्यते इसलाम की जड कटती है इससे॥
—बांगेदरा, पृ० १७३-७४।

देखा आपने, 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा' के लेखक पंडित इक़बाल का मत क्या है। आप कहते हैं कि इस बार का चक्कर तो कुछ और ही है, शराब भी दूसरा, जमावड़ा भी दूसरा, पिलाने वाला भी दूसरा। मुसलमान भी अब और ही बुत की पूजा में लग गया और अपने खुदा को छोड़ कर अपने देश की पूजा में लग गया। परन्तु चेत लो कि जो देश के लिये वस्त्र है वही दीन के लिये कफन ! क्या तुम्हारा यह बुत इसलाम के अनुकूल है ? लुटेरों के प्रधान को तुमने इसलाम का अंग समझ लिया ? देख तेरी भुजाओं में तौहीद का बल है और तू मुहम्मद का चेला है, बस, इसलाम ही तेरा देश है। उठ खड़ा हो

और इस संसार को फिर वही पुराना दृश्य दिखा दे और इस देशमाता को मिट्टी में मिला दे। यदि तू इस देश से अपने को बाँध लेगा तो नष्ट हो जायगा। वर्न तू अपने स्वतन्त्र जीवन को मछली की भाँति बना ले। विश्व में जहाँ पहुँच उसी को अपना घर बना ले। स्मरण रख, देश को त्याग देना ईश्वर के प्रेम पात्र मुहम्मद साहब की शिक्षा है। बस तू भी उसी की साखी भर और उसी को सच्चा ठहरा। हाँ, एक बात को और भी जान ले। वह यह कि राजनीति की भाषा में देश का अर्थ कुछ और और नबी वाणी में उसका भाव कुछ और है। इस भेद को समझने के कारण ही संसार में अनेक जातियाँ बंदी बन गई हैं और विजय-व्यापार के प्रपंच में मग्न हैं। राजनीति में सत्यता का अभाव इसी से आ गया है। दुर्बल लोग इसी से लुटे जा रहे हैं और ईश्वर की सृष्टि इसी से जातियों में बँट जाती है। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि इसी से इसलाम की जातीयता मारी जाती है और मुसलिम एक किसी प्रकार नहीं हो पाता। सारांश यह कि देश-प्रेम के लटके को छोड़कर मुसलमानी एकता में लग जाओ और फिर संसार को दिखा दो कि हजरत मुस्तफा के लाड़ले क्या कर सकते हैं।

किन्तु शेख मुहम्मद इकबाल की इस शेखी का कहीं ठिकाना भी है? मुस्तफवी इतिहास तो यह बोलता है—

खिलाफत जो इत्तहाद इसलामी की नींव खयाल की जाती थी उसी पर मुसलमानों में झगड़ा हो गया और इसलामी दुनिया शीया और सुन्नी दो फिरकों में बट गयी। बनू अब्बास की खिलाफ़त का एकतिदार उनकी तलवार पर क़ायम था और उनके बाद जब यह तरका (दाय) सलातीन उसमानियों के हाथ आया तो उन्होंने भी इसे महज अपने सियासी मुफ़ाद (लाभ) को मज़बूत करने के लिये इस्तैमाल किया। मग़रिब की ईसाई हुकूमतों के मुकाबले में दुनिया में इसलाम की हमदर्दी हासिल करने के लिए उन्होंने इत्तिहाद इसलाम का परचार किया। उनका एक मक़सद यह भी था कि अवाम को खिलाफ़त के तक़दीस (पावनत्व से)

मिसावा (जमा) करके जमहूरियत (लोकतंत्र) आज़ादी और क़ौम-परस्ती के मगरबी तसव्वुरात (पश्चिमी भावनाओं) से अलग रखा जाय।

—मु० इ० की सियासत, पृ० २२६-२७।

निदान उसमानी सुलतान अब्दुल हमीद ने शेख़ जमालुद्दीन अफगानी के इत्तिहाद इसलाम को जो रूप दिया वह बाहरी था भीतरी नहीं, जाहिरी था बातिनी नहीं। शेख मुहम्मद इकबाल पहले तो 'इत्तिहाद इसलाम' में 'जमाली' थे पर बाद में विलायत की कृपा से 'हमीदी' बन गये। आप इसे संयोग कहें अथवा काल का प्रभाव, पर है यह सर्वथा सत्य कि शेख मुहम्मद इकबाल विलायत से कुछ और ही रंग में रँगकर आये और ख़लीफ़ा अब्दुल हमीद के पतन के बाद उनका बाना धारण कर लिया। इकबाल के आलोचकों को पूरा पूरा पता है कि उनकी कविता जो विलायत जाने के पहले थी वह विलायत में नहीं रही और विलायत से वापस आने पर तो वह और ही कुछ हो गयी। इस दृष्टि से विलायत का प्रभाव प्रकट होता है और उनके परिवर्तन का कारण विलायत-वास ही कहा जा सकता है। किन्तु सच पूछिए तो विलायत से छनकर जो मसाला उनके मस्तिष्क में घर कर गया वह बंग-भंग और हमीद पतन के पाक में पका था और वही आगे चलकर अनुकूल हवा पाने से पाकिस्तान के रूप में फूट निकला। पाकिस्तान और कुछ नहीं उसी बंग भंग का विकसित रूप है जो अजाने रूप में अजीब ढंग से हमारे सामने आ रहा है। सच पूछिए तो जापान के पराक्रम के प्रभाव को पंगु करने के लिए जहाँ बंग भंग की आवश्यकता पड़ी वहीं एशियाई अवर को तोड़ने के लिए पाकिस्तान की। जो हो, इतना निर्विवाद है कि डाक्टर मुहम्मद इकबाल वहीं से यह ठान कर चले थे।

यह हिन्द के फ़िरक़ासाज़ 'इकबाल' आज़री कर रहे हैं गोया।
बचाके दामन बुतों से अपना ग़ुबारे (धूल) राहे हिजाज़ होजा ॥'

—बाँगेदरा, पृ० १३८।

भाव यह कि भारत में जो भाँति-भाँति की दलबन्दी हो रही है उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि तू इस दलबन्दी की उपासना से निकल कर 'हिजाज़' के मार्ग की धूल बन जा।

इसी 'हिजाज़' का शेख मुहम्मद 'इकबाल' को इतना नाज है कि आप बड़े अभिमान के साथ लिखते हैं—

'अजमी खुम (पात्र) है तो क्या ? मै (मद्य) तो हिजाजा है मेरी।
नगमये (राग) हिन्दी है तो क्या ? लै तो हिजाजा है मेरी।'
—वही, पृ० १८७।

मगर यह 'हिजाज' है क्या ? आप कहेंगे इसलाम का प्रतीक। किन्तु विवेकी बोल उठेगा 'वतन परस्ती'। अपनी न सही, मुहम्मद की सही, उनके प्रपितामह हाशिम की सही। क्योंकि आप स्वयं कहते हैं—

वेचता है 'हाशिमी' नामू से (गौरव) दीने 'मुस्तफा'
खाक व खू में मिल रहा है 'तुर्कमाने' सख्त कोश।'
—पृ० २६०।

कि हाशिम की प्रजा होकर उनकी सन्तान मुहम्मद साहब के दीन के गौरव अर्थात् इसलाम की आन को बेच रहा है। कारण कि उसकी मिट्टी और रक्त में 'तुर्कमान' का अंश घुस गया है जो बड़ी तत्परता से अपना रंग दिखा रहा है। सच है बेचारा तुर्कमान किसी अरबी दीन को क्या जाने। उसे तो जान सकता है अरब या अल्लामा इकबाल सा हाल का टूटा हिन्दी मुसलमान ही।

हाँ, यहाँ 'हाशिमी' और 'तुर्कमान' मिल्लत या 'दीन' की दृष्टि से नहीं देखे गये हैं। नहीं, यहाँ तो 'खाक' और 'खून' का हिसाब लगाया गया है। कारण यह कि

एरान वउची में रवाह मद किसा हिस्सा मुल्क का हो ग्व आजादी का सलसला मौजूद है जिसे अहल यूरप बमुश्किल समझ सकते हैं, यह लोग शहर व कसबात (कस्बों) के वाशिन्दों को निहायत हिकारत (घृणा) की नजर से देखते हैं और उन्हें गुलाम समझते हैं। उनके नजदीक किसी ग्वास मुकाम को मसकन (निवास) ठैराना गोया आजादी को खैरबाद (धन्यवाद) कहना है। क्योंकि जहाँ मसकन

मोअय्यन (निश्चित) हुआ उसके साथ ही गैर का महकूम (अधीन) होना भी लाजमी है।

—*मिरातुल अरब, मुफीद आम प्रेस, आगरा, १६०२ ई०, पृ० १८२।*

श्री नादिरअली वकील के इस परिचय से प्रकट हो जाता है कि क्यों हिजाजी संस्कृति में घर की उपेक्षा पर घराना की प्रतिष्ठा है। माना कि अरब में वतनपरस्ती नहीं। न सही, पर नस्लपरस्ती तो है? खून की दोहाई तो दी जाती है। हाशिमी खून तो खरा रखा जाता है। फिर मिल्लत की एकता कहाँ? इसलाम की समता कहाँ? और आज? आज तो अरब की यह दशा है कि कुछ पूछिये न। अरब के मदवर भी ग्रामीण बन गये। और ग्रामीण भी ऐसे कि उनमें पूरी नागरिकता आ गयी। किसी मिल्लती खलीफा के प्रसाद से नहीं, मुल्की और वतनी इब्न सऊद के प्रताप से जिसने 'इखवान' का ऐसा सूत्र निकाला कि सभी अरब अपने वंशगत वैर को बिसार कर यत्र तत्र बसने और परस्पर भाईचारे का व्यवहार करने लगे। आज वहाँ सुलतान अब्दुल अजीज का सच्चा इसलामी शासन है जो *इत्तिहाद अरब का पक्षपाती है, पर इत्तिहाद इसलामी का पोषक* नहीं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि इत्तिहाद इसलाम के विचार से वह 'जमाली' है कुछ हमीदी नहीं। अर्थात् 'इत्तिहाद इसलाम के साथ ही साथ 'इत्तिहाद वतन' का भी पक्षपाती है, कुछ उसका विरोधी नहीं।

'इत्तिहाद अरब' के सम्बन्ध में टाँक लेना होगा कि यह इत्तिहाद केवल अरब तक ही सीमित है। कुछ अरबी भाषा और अरबी संस्कृति (इसलाम?) के प्रसार तक नहीं। मिस्र तो अरब का अंग कभी था ही नहीं, पर कतिपय कारणों से शरीफ हुसैन ने सीरिया और इराक को भी 'इत्तिहाद अरब' के भीतर मान तथा ब्रिटिश सरकार से मनवा लिया था। इब्नसऊद का इसलामी शासन भी इतना चाहता है। किन्तु इस ठोस चाहना में एक मेख भी बड़ा भारी है। सरकार कहती है कि यहूदियों का घर भी कहीं होना चाहिए। फिलस्तीन उनकी भूमि क्यों न बना दी जाय? अरब मानते नहीं, पर धीरे धीरे सहते जा रहे हैं और यहूदी बाहर से आ आकर बसते, खेती करते और भूमिपति बनते जा रहे हैं। वहाँ अरब यहूदी संख्या में कम, पर सरकार की आँखों में अधिक हैं। फलतः पनप भी खूब रहे हैं। अरब

जलते और भुन-भुनकर रह जाते हैं। पर ब्रिटिश सरकार से कुछ कह नहीं पाते। यहाँ का हिन्दू मुसलमान का झगड़ा वहाँ का अरब यहूदीद्वन्द्व बन गया है। चक तो वही है फिर चाहे जैसा रूप धर ले, उसे रोक कौन सकता है? परन्तु अरब भी बड़े जीवट के जीव हैं। अपने आग्रह पर अड़े हैं और अरब को एक करके दम लेना चाहते हैं। समझ में नहीं आता कि फिलस्तीन के इस विभाजन के विरोधी हिन्दुस्थान के टुकड़ों में क्यों लगे हैं और क्यों नहीं उसी न्याय और उसी नीति को यहाँ भी बरतते। आश्चर्य तो यह है कि इतना कुछ कर जाने पर भी हमारे 'इकबाल' का दावा यही है—

> ख़ीरा (अन्धा) न कर सका मुझे जलवाये दानिशे फिरंग,
> सुरमा है मेरी आँख का ख़ाके मदीना व नजफ़।
> —बाले जिबरील, १९३४ ई०, पृ० ६१।

कैसा थोथा अभिमान है। किस निर्लज्जता से कहते हैं कि फिरंग की विचक्षणता की ज्योति ने मुझे अन्धा नहीं किया कारण कि मेरी आँख में मदीना व नजफ की धूल का सुरमा लगा है।

कहने को अल्लामा 'इकबाल' कुछ भी कहें पर देखनेवाला झट देख लेता है कि सचमुच उनकी आँख में धूल झोंक दी गई है जिससे उनकी खरी दृष्टि मारी गई है और वे प्रमादवश किसी अन्य का गुणगान कर रहे हैं—आसमान को छोड़ कर अरब का हो रहे हैं और 'किताब' से मुँह मोड़ कर 'मिट्टी' के पुजारी बन रहे हैं। यह है तो फिरंग का प्रसाद ही पर प्रमादवश पंडित इकबाल इसे मदीना का प्रसाद समझते हैं। हिन्दी मुसलमान जो ठहरे।

किन्तु आज स्वयं 'मदीना व नजफ़' में क्या हो रहा है इसे फूटी आँख से देखते भी नहीं। यह अन्धापन नहीं तो और है क्या?

हिजाज़ का इसलामी शासन जिस इत्तिहाद इसलामी का हामी है उसके विषय में इतना तो प्रकट ही है कि वह किसी भी दशा में इत्तिहाद अरब अथवा इत्तिहाद वतन का विरोधी नहीं है और न इत्तिहाद इसलाम के लिए किसी खिलाफ़त का ही भूखा है। परन्तु सुलतान अब्दुल हमीद का इत्तिहाद इसलाम एक ओर 'इत्तिहाद तूरान' का घातक था तो दूसरी ओर अरब का भक्त। अरबों को हमीदी

शासन में जो महत्त्व मिला, बहुत कुछ वही अरब विद्रोह का कारण हुआ और सी से तुर्कों का पतन भी। सुलतान हमीद ने अपनी रक्षा के लिए खिलाफत का ाड़ पकड़ा तो सही, पर कभी उसके मूल पर ध्यान न दिया। परिणाम यह हुआ 5 नवजवान तुर्क बिगड़ गये तो अरब उनकी रक्षा के लिए न बढ़े, उलटे अपने ापने राज्य में लगे। इतना ही नहीं, उसकी इसी दिखाऊ नीति का नतीजा था कि ागे चलकर न तो उसमानी वंश का कोई शासक रह गया और न उसका कोई तला खलीफा ही। खिलाफत दुनिया से विदा हो गयी और राज्य तूरानी तुर्कों हाथ लगा। आज तुर्क 'इत्तिहाद इसलामी' नहीं इत्तिहाद तुर्की के पक्षपाती हैं। ाज हमीद का कहीं नाम भी नहीं लिया जाता। पतन के बाद तुर्कों में उनकी ातिष्ठा यह थी कि—

शहर में सुलतान माजूल (अपमानित) की तसवीर कहीं आवेजा (लटकती हुई) मालूम नहीं हुई। अलबत्ता अलबम में दीगर सलातीन (सुलतानों) के मजबूरी फ़रोख्त होती है, या ऐसी तसवीर जिनमें मजहक़ा (परिहास) और मजाह (उपहास) किया गया है याने चेहरा बनाया है जिसमें नाक, कान, आँख सब बरहना (नंगी) औरतों की या रक़ासा (नर्तकी) औरतों की हैं जिनके हाथ में आलातगिना (गाने के बाजे, वाद्य) हैं। यह तसवीरें एलानिया बिकती हैं। मतलब इन तसवीरों से यह है कि सुलतान मख़लूअ (पदच्युत) इन चीजों में मुबतला (व्यस्त) थे।

—रोजनामचा सियाहत, वही, पृ० ३२८-२९।

ख्वाजा गुलामुस्सक़लैन ने सुलतान अब्दुल हमीद का जो रूप उपस्थित किया है वह उनकी राजधानी अथवा घर का रूप है। उनके खलीफा रूप को देखना है तो मजहबी ख्वाजा हसन निजामी से पूछ देखें। आप किस तड़प से कहते हैं—

हा! बेचारे सुलतान अब्दुल हमीद की यादगार जगह जगह नजर आती है। बैतुल मुक़द्दस में, बैरुत में, दमिश्क में, दमिश्क से मदीना मुनव्वरा तक रास्ता में, जहाँ कहीं कोई मुमताज चीज देखी सुलतान अब्दुलमजीद की कोई न कोई निशानी जरूर पायी। कैसा बाखैर

(सकुशल) और नेक खलीफ़ा था। मौजूदा हुकूमत ने हर जगह से उसका नाम मिटा दिया है। मगर अरब के बच्चों बच्चों के दिल पर अब्दुल हमीद कन्दा (खुदा हुआ) है। उसको क्योंकर महो (मिटा हुआ) कर सकते हैं। —सफ़रनामा ख्वाजा हसन निजामी, वही, पृ० १६३

'कैसा था ख़ैर और नेक खलीफ़ा था' इसका पता तो इसीसे चल जाता है कि बादशाह की अपनी जिन्दगी निहायत मशकूक (सशंक) थी उन्हें हरवक्त जिंदगी खतरा दामनगीर (भयग्रस्त) रहता। दिनको वह कैदियों की तरह महल में बन्द रहते रात का अक्सर हिस्सा जागते और हर रात ख्वाबगाह (शयनस्थल) को तब्दील करते। खुफिया पुलिस की तादात में एक नुमाया एज़ाफ़ा किया गया। मुल्की मोहकमाजात (मोहकमे) बन्द थे और तमाम खज़ाना खुफिया पुलिस पर खर्च किया जा रहा था! इस्तम्बोल में ज़र्बुल मस्ल (कहावत) थी कि बाप पर बेटा और माँ पर बेटी जासूसी के मुतैय्यन हैं। शक व शुबहा इन्तहाई मदारिज (अन्तिम दर्जों) पर पहुँचे हुए थे। एक दफ़ा जनरल फ़ुवाद पाशा शर्फयाबी (गौरवान्वित होने के हेतु) के लिए हुजूर में हाज़िर हुए। इत्तफ़ाक़न उनका पाँव लड़खड़ा गया। बादशाह समझे कि हम पर हमला किया चाहता है वहीं से फ़ौरन गोली चला दी। ख़ैर गुज़री कि जरनैल ज़रमी न हुए और बाल बाल बच गये।

—मुस्तफ़ा कमाल, कौमी कुतुबखाना, पृ० ४८ ४६।

परन्तु इतने पर भी हमारे देश के मुसलमानी नेता यह कुछ सुनना नहीं चाहते। उन्हें तो ले देके बस जैसे हो तैसे अब्दुल हमीद का गुणगान करना ही है। 'अतातुर्क मुस्तफ़ा कमाल' के रचयिता के० ए० हमीद से सत्य की हत्या न हो सकी। उन्होंने जो सत्य का पक्ष लिया तो जनाब आनरेबुल सर अब्दुल क़ादिर की लन्दन से डाँट पड़ी।

अगर कोई बेलाग मारवज़ इत्तला के साहेब मुसन्निफ़ (लेखक महोदय) के पास मौजूद है तब भी वह सुलतान अब्दुल हमीद की ख़िदमात मिल्ली (मुसलिम सेवाओं) को नज़र अन्दाज़ (उपेक्षित)

हीं क़र सक्ते। वह मिल्लत के वह सालार (नेता) थे जिन्होंने तीस
रस से ज्यादा यूरोप की मुत्ताहिदा कोशिशों का जो सल्तनत उसमानिया
ो तोड़ने के लिए की जाती रही, बड़ी कामयाबी से मुक़ाबला किया।

—मुस्तफ़ा कमाल, वही, पृ० १२-१३।

इतना ही नहीं, आनरेबुल सर अब्दुल कादिर को और भी खुलकर लिखना पड़ा और सावधान होकर लिखने का आदेश देना पड़ा। देखिए तो कैसी भीतरी चोरा है—

अक्सर लोग यह मानने को तैयार नहीं कि तुर्की ज़बान की तरक़्क़ी मुमकिन न थी। इस हुक्म की क्या वजूहात (कारण) हैं और इसके जो मुज़िर असरात (हानिप्रद प्रभाव) क़ौमिय्यत और इत्तिहाद इस-लाम पर हैं वह क्यों नज़र अन्दाज़ किये गये। अगर इस किताब की दोबारा एशायत (प्रकाशन) की नौबत आयी तो मुझे उम्मीद है कि हमारे फ़ाज़िल्ल दोस्त मज़ीद (अधिक) तमाश और तहक़ीक करके उमूर के ज़ेर बहस लायेंगे ताकि उनके मुताल्लिक सहीह राय कायम हो सके।

—वही, पृ० १४-१५।

'बहस' के नाम पर भला कोई बैरिस्टर चुप रह सकता है? सो भी अत्यन्त खुले सत्य पर! चट तान ही तो दिया—

इसलाम फ़ितरत (प्रकृति) का मज़हब है। इसलिए उसका कोई ख़ास लिबास नहीं हो सकता। हुरूफ़ के बदल देने से वह ख़ारिज अज़ इसलाम (इसलाम से बहिष्कृत) नहीं हो सकते। मुमकिन है कि उन्होंने इसमें गलती की हो, मगर वह बारहा इआदा (दोहरा) कर चुके हैं कि लातिनी हुरूफ़ के इस्तैमाल से उनको तबाअत (प्रकाशन) सहूलत होगी। वह अपनी ज़रूरियात को हम से बेहतर समझ सकते हैं।

—वही, पृ० ३०।

कभी नहीं, दुनिया का कोई भी दाना मुसलमान अपनी जरूरतों को किसी हिन्दी मुसलमान से बेहतर नहीं समझ सकता। तभी तो आये दिन हमारे देश के मुसलमान तार द्वारा किसी मुस्तफ़ा कमाल और किसी इब्न-सऊद को ठाट से

समझाया करते और बार-बार फटकारे जाने पर भी इन्हें पुचकारते रहते हैं उन्हें समझ होती तो इनके समझाने पर क्यों नहीं चलते और क्यों नहीं 'मुसलि हैं हम वतन के है सारा जहाँ हमारा' का हिन्दी कलमा पढ़ते ? परन्तु नहीं, उनका कहना तो कुछ और ही होता है। सुनिए न, ख्वाजा गुलामुस्सकलैन साहब आ बीती सुनाते और आपको कुछ अपना भाव भी बताते हैं। कहते हैं—

हिन्दुस्तान के मुसलमानों की इस पालिसी पर कि वह हुनू (हिन्दुओं) से अलहदा हैं उन्होंने भी मिस्ल तमाम अरब व ईरान और तुर्कों के एतराज किया। या हम लोग गलती पर हैं या यह लोग खुदगर्ज हैं या हमारी हालत से वाकिफ नहीं। बहरहाल हिन्दुओं से इत्तिफ़ाक (सम्पर्क) के ख्वाहिशमन्द (इच्छुक) हैं।

—वही पृ०, ३११।

अन्तिम बात ही ठीक है। नहीं तो अपने देश में घुसने ही क्यों देते ? आखिर अफगानों ने हिन्दी जिहदियों को रोक ही तो दिया था और इब्न सऊद ने भी ऐसा कुछ किया था कि स्वर्गीय मौलाना मुहम्मद अली को भी कलप कर लिखना ही पड़ा था—

मगर खुदा भला करे सुलतान इब्न सऊद का। अब वहाँ का रास्ता भी हम बदबख्तों (दुर्भागियों) के लिए बन्द है, जहाज पर खबर पढ़ी थी कि हम से भी ज्यादा बदबख्त शामी, जिन्होंने तुर्कों के खिलाफ़ बगावत में सब से बड़ा हिस्सा लिया था और इसके सिले (बदले) में फ्रांस की गुलामी और ४८ घण्टे उसकी मुसलसल (लगातार) गोलाबारी हासिल की थी, उन्होंने अब फ़ैसला किया है कि उनकी नजात (मुक्ति) के लिए एक बादशाह की ज़रूरत है। चुनांचे सुलतान इब्न सऊद पर उनकी नज़रें इन्तखाब (चयन दृष्टि) पड़ी है। सच है मिलकियत की बदअत (कुरीति) इब्तदा (आदि) शाम ही से हुई थी। अब यज़ीद की मिलकिय्यत की जगह नजदियों की मिलकिय्यत की सलब है।

—मौलाना मुहम्मदअली के यूरोप के सफर, कियामखाना पञ्जाब लाहौर, सन् १९४१ ई०, पृ० ४७-४८, ६ जून १९२८ ई०।

किन्तु नजदियों का शासन कैसा चल रहा है इसे भी जान लें और तब कहें कि कोई सच्चा मुसलिम इन घरफूटे मुसलमानों को जगह क्यों दे और क्यों इनकी 'घरफोरी' हवाई नीति को माने। देखिए—

शराकी पाबन्दी जिस क़दर नज्द में है उसकी नज़ीर किसी इस-लामी मुल्क में नहीं मिल सकती। इस ज़माना में शरई हुदूद (विधि-मर्यादा) इजराय नज्द के सिवा कहीं नहीं होता। इस बारा में नज्दी हुकूमत ने अहद सहाबा (आरम्भ के चार ख़लीफ़ों का काल) की याद ताज़ा कर दी। फिर हुदूद का इजराय इस शिद्दत (कड़ाई) से होता है कि इससे अमीर व गरीब कोई नहीं बच सकता। चोर का हाथ काटा जाता है, तारिक (तर्क करने वाले) नमाज़ को कोड़े की सज़ा दी जाती है, और इसी कबील के तमाम शरई हुदूद जारी हैं।

—अरब की मौजूदा हुकूमतें, वही पृ० ५२।

'अहदसहाबा' से स्वभावतः हमारा ध्यान 'मदह सहाबा' और 'तबर्रा' की ओर चला जाता है और विवश हो मानना पड़ता है कि इसलाम में झगड़े की जड़ 'शाम' नहीं अपितु 'हिजाज' ही है और वह अमीर मुआविया का राज्यलोभ नहीं अपितु ख़लीफ़ा बकर का रसूल मुहम्मद का वारिस बन बैठना भी है। एक सीधा-सा तबर्रा है—

खुदा का कहा भूल जाने पर लानत,
अली की जगह बैठ जाने पर लानत।
मैं कहता नहीं नाम लेकर किसी का,
फ़ुलाँ को, फ़ुलाँ को, फ़ुलाँ को है लानत॥

बताने की बात नहीं, यहाँ फ़ुलाँ, फ़ुलाँ और फ़ुलाँ का संकेत है अबू बकर, उमर और उसमान, जो शीआ-दृष्टि में हज़रत अली का हक़ छीनने वाले हैं। विरासत की भावना ईमान में इतनी प्रबल होती है कि कोई सहसा उससे छूट नहीं सकता। स्वयं मौलाना भी तो अपने वारिस से कुछ आशा करते और अपने जी की बात खुलकर लिख जाते हैं—

मियाँ तारिक ! जल्द पढ़-लिखकर जवान हो जाओ और अदन से लेकर जबलुलतारिक (जिब्राल्टर) तक को आजाद कराओ।

—मौलाना मुहम्मदअली के यूरप सफर, वही, पृ० ५०, ७ जून सन् १९२८ ई० का पत्र।

विचार करने की बात है कि हिन्दी 'मुहम्मद अली' अपने हिन्दी नाती 'तारिक' को क्यों लिखता है कि वह बड़ा होकर 'अदन' से लेकर जिब्राल्टर' तक को आजाद कराये , कुछ अपनी जन्म भूमि, हिन्द को नहीं। नस्ल या खून के अतिरिक्त इसका रहस्य क्या हो सकता है ? सच्चा मुसलिम तो सारे संसार को मुसलिम बनाना चाहेगा, कुछ 'अदन-जिब्राल्टर' को आजाद नहीं। भला पक्का इब्न सऊद इस साहस को कब सह सकता है। अरब खुद आजाद हैं और आजाद होने का बूता भी रखते हैं, उन्हें किसी हिंदू' तारिक के आजाद कराने की आवश्यकता नहीं। वह पहले अपने आपको तो आजाद कर ले फिर अरब का स्वप्न देखे। सच है, सुलतान अब्दुल अजीज जिस पादप के प्रसव हैं और 'अतातुर्क' जिस लता के फूल हैं उसको कोई हिन्दी मुसलमान जान ही नहीं सकता। यदि हिन्दी मुसलमानों में अपने देश का अभिमान होता तो आज वे खिलाफ्त के खिलौने को छोड़कर इन इसलामी भुजाओं का स्वागत करते और उन्हीं की भाँति अपने देश की एकता पर मर मिटते और संसार में अपना नाम उजागर करते। पर नहीं उनसे यह न हो सकेगा और चाहे जो हो जाय। उन्हें इसका क्या पता कि आज अरब 'इत्तिहाद अरब' पर जान दे रहा है तो तुर्क इत्तिहादतुर्क' पर। अरे ! यह अभागा हिन्द ही ऐसा देश है जहाँ के सपूत अपने 'इत्तिहाद' को छोड़कर 'इत्तिहाद इसलाम' पर जोर मार रहे हैं और कोसते हैं उस आजाद तुर्क को जिसके नाम का 'खुतबा आज भी नमाज में पढ़ने के लिए तैयार हैं। कैसी है यह विधि विडम्बना और कैसी है यह इनकी निगली सूझ !

लीजिए, इन्हीं सब बातों से ऊब कर प्रसिद्ध मौलाना अबुल आला मौदूदी कोई और ही राग अलापते हैं। सुनिए न—

अगर वाकई यही हमारी हैसियत है तो फिला शुबहा वह सब कुछ सहीह है जो मुसलमानों की मुख्तलिफ जमाअतें इस वक्त कर रही हैं।

ग़ैर मुसलिम हमसायों के साथ मिलकर आज़ादी की जद्दोजहद भी सहीह, वरतानवी हुकूमत और देशी रियासतों का सहारा लेकर हिन्दू इम्पीरियलिज़्म का मुकाबला भी सहीह, फ़ौज में और सरकारी मुलाज़मतों में और इंतख़ाबी मजलिस में अपनी नुमायन्दगी का झगड़ा भी सहीह, मुसलिम रियासतों की हिमायत भी सहीह, तक़सीमे मुल्क (देश-विभाजन) का मुतालबा भी सहीह, ख़ाकसारों की फौजी तनज़ीम (संघटन) भी सहीह, और वह मुसलिम क़ौमपरस्ती भी सहीह जिसकी बिना पर हक़ और उसूल से क़त्अ नज़र करके हर उस फ़ायदे को दाँतों से पकड़ा जाता है जो मुसलमान क़ौम या मुसलमान अशख़ास को हासिल होता है। ग़र्ज़ यह सब कुछ सहीह है क्योंकि क़ौमियत का आईन यही है। क़ौमें यों ही काम किया करती हैं। और एक क़ौम जो किसी उसूल की अलमबरदार (नियन्ता) नहीं बल्कि महज़ अपनी क़ौमी बेहतरी की ख़्वाहिशमन्द हो, इन तदबीर के सिवा आख़िर और क्या तदबीरें एख़्तयार कर सकती हैं ? अलबत्ता इन सब चीज़ों के साथ अगर कोई बात ग़ैर सहीह है तो वह हमारी यह ख़ुशफ़हमी कि यह हैसिय्यत एख़्तयार करने के बाद भी हम इस ज़मीन पर हुकूमते इलाही (दैवी शासन) क़ायम कर सकेंगे। हालाँकि इस हैसिय्यत में यह ख़्वाब कभी शरमिन्दाए ताबीर (परिणाम से लज्जित) हो ही नहीं सकता।

—मुसलमान और मौजूदा सियासी कशमकश वही, पृ० ८८।

मौलाना मौदूदी ने थोड़े में सब कुछ कह दिया, पर यह नहीं कहा कि 'क़ौम' का सूत्रधार है कौन। अतः थोड़े में इसी को फिर बताने की चिन्ता हुई और स्पष्ट कहा गया—

अगर लीग के रहनुमाओं में इसलामी हिस्स (वेदना) का शायबा (लेश) भी मौजूद होता तो वह इस मौक़ा को हाथ से न जाने देते। और उसका जो गहरा अख़लाक़ी असर मुतरत्तिब (उपलब्ध) होता उसकी क़द्र व क़ीमत के मुक़ाबला में कोई नुकसान जो ऐसा तर्ज़े अमल (कार्य-प्रणाली) एख़्तयार करने की वजह से हासिल होने की तवक्क़ा

(आशा) है फ़िलअम्ल कोई वक़अत नहीं रखता। मगर अफ़सोस है कि लीग के क़ायदे आज़म से लेकर छोटे मुक़तदियों (अनुयायियों) तक एक भी ऐसा नहीं जो इसलामी ज़ेहनियत (मेधा) और इसलामी तर्ज़े फ़िक्र रखता हो और मोआमलात को इसलामी नुक्ताय नज़र (दृष्टि-बिन्दु) से देखता हो। ये लोग मुसलमान के माने बमफ़हूम (सकेत) और उसकी मख़सूस हैसियत को बिलकुल नहीं जानते। इनकी निगाह में मुसलमान भी वैसी ही एक क़ौम है जैसी दुनिया में दूसरी और क़ौमें हैं। और यह समझते कि हर मुमकिन सियासी चाल और मुफ़ीदे मतलब सियासी तदबीर से इस क़ौम के मुफ़ाद की हिफ़ाज़त कर देना ही बस 'इसलामी सियासत' है। हालाँकि ऐसी अदना दरजा की सियासत को इसलामी सियासत कहना इसलाम के लिए एज़ालाय हैसियतें उरफ़ी (मान-भग) से कम नहीं।

वही, पृ० ३०-१।

मौलाना मौदूदी से खरे मुसलिम कुछ भी कहते रहें पर 'लीग' तो वही करेगी जिसके लिए वस्तुतः वह बनी है। सो जानना चाहिए कि २ दिसम्बर सन् १९०६ ई० को जनाब मुश्ताक़ हुसैन वक़ारुल-मुल्क ने जनाब आनरेबुल सैयद नव्वाबअली साहब चौधरी को अमरोहा से तार दिया कि—

कांफ्रेन्स को पोलिटिक्स से कुछ तालुक नहीं है लेकिन मेहरबानी फ़रमाकर ३० दिसम्बर को पोलिटिकल आरगनाइज़ेशन के वास्ते ख़ास तौर पर अलहदा कर दीजिए। रातें ऐसे काम के लिए, जैसा कि वह है, न काफ़ी हैं और न मुनासिब हैं। जवाब बज़रिया सैयद नबी अल्लाह बैरिस्टर-एट-ला इनायत हो।

ढाका के उक्त चौधरी साहब को तार देने का कारण यह हुआ कि—

वह शिमला डेपुटेशन के एक मेम्बर हैं और शिमला पर वह ख़ुद मौजूद थे जब कि बिल इत्तिफ़ाक़ यह तजवीज़ हुई थी कि ढाका

कान्फ्रेंस के ज़माने में बमुक़ाम ढाका सेंट्रल एशोशिएन के मुताल्लिक़ गुफ़्तगू व तसफ़ियाँ (निर्णय) किया जावे।

—मकातीब, शम्सी मिशन प्रेस आगरा, पृ० १११।

फलतः ३० दिसम्बर सन् १९०६ ई० को एजुकेशनल कांग्रेस की छाया में 'मुसलिम लीग' की नींव पड़ी। इसलाम के प्रचार के लिए नहीं, मुसलमानों के हित के लिए, 'मक्का' की प्रेरणा से नहीं 'शिमला' की सूझ से।

'शिमला' ने किस प्रकार मुसलमानों को फुसलाया और उन्हें संघटित होने का आदेश दिया, इसे भी तो सुन लीजिए। नव्वाब मुहसिन मुल्क सैयद महदीअली खाँ उसी नव्वाब वक़ारुल मुल्क को लिखते हैं—

'जो कुछ मुसलमानों ने दरख्वास्त की थी और जिस पर ख़याल करने का वादा वाइसराय ने फरमाया था वह बहुत कुछ पूरा किया गया है। और जो हिस्सा इसका वाइसराय की कौंसिल के मुतल्लिक़ था वह तो बिल्कुल साफ हो गया। मुसलमानों के लिए चार सीट रखी गयी हैं। जिसमें दो मेम्बर गवर्नमेंट नामज़द करेगी और दो मेम्बरों का एन्तिख़ाब (चुनाव) मुसलमान करेंगे। मगर तरीक़ा एन्तिख़ाब का क़तई फ़ैसला अभी नहीं हुआ। और नाज़ (अत) लोकल गवर्नमेंटों में और लोकल-बोर्ड वग़ैरह में हुक़ूमत की हिफ़ाज़त करना चाहिए।

और इसके लिए यही वक़्त कोशिश करने का है और कोशिश वाज़ाब्ता और मुत्तफ़िक़ा होना चाहिए। जो डेपुटेशन शिमला पर था वह किसी-न किसी तरह बाक़ायदा हो गया था और हिन्दुस्तान के हर एक सूबा के मुसलमान शरीक हो गये थे, और गवर्नमेंट ने भी उसको तमाम हिन्दुस्तान के मुसलमानों का क़ायममुक़ाम समझ लिया था। इसी वास्ते उसका असर भी हुआ और नतीजा भी अच्छा निकला। अगर इस उसूल की पाबन्दी की जाये तो यक़ीना है कि उसका असर अब भी अच्छा होगा। और अगर यह मलहूज़ (मान्य) न रहा और हर एक सूबा के मुसलमानों ने बग़ैर सलाह व मशविरा के अलहदा अलहदा कारवाई शुरू कर दी तो उसका वज़न (भार) इस क़दर न होगा

जैसा कि डेपुटेशन का हुआ था। अब रहा यह अम्र कि आयन्दा कार रवाई इत्तिफाक़ से वक्रोंकर हो तो यह आल इण्डिया मुसलिम लीग पर मुनहसिर है। मगर इसका तैनक़ाद्दि (यथार्थ संघटन) बाज़ाब्ता अब तक नहीं हुआ। इसलिए आपकी तवज्जुह (दृष्टि) इस ज़रूरी अम्र की तरफ चाहता हूँ।

—मकातीन, वही, पृ० ४८।

नवाब वक़ारुल मुल्क पहले से ही किसी 'पोलिटिकल असोसिएशन' की चिंता में थे। १७ सितम्बर, सन् १९०४ ई० को उन्होंने मुहम्मद बशीरुद्दीन साहब को जो पत्र लिखा था उसका अंश है—

मैं गालिबन् २५ अक्टूबर से पहले ही अहमदाबाद से लौटकर वतन पहुँच जाऊंगा। इसके बाद इंशा अल्लाह ताला नवम्बर के महीने में शरकी (पूर्वी) अज़ला (ज़िलों) का दौरा ख़तम करना है ताकि पोलिटिकल असोसिएशन के मेम्बरों का इन्तख़ाब तक्मील को पहुँचे और ज़्यादा से ज़्यादा आख़िर मौसिम सरमा में बमुकाम लखनऊ असोसिएशन का पहला इजलास मुनाक़िद (घटित) हो सके।

—मकातीब, पृ० १२३।

सन् '४ में किसी नव्वाब को किसी पोलिटिकल असोसिएशन की क्यों सूझी और क्यों सन् '६ में मुसलिम लीग बनी इसपर विचार करना तो दूर रहा, आज लोग न जाने क्यों पाकिस्तान' से चिढ़ने लगे। अरे भई! पाकिस्तान और कुछ नहीं, इन्हीं पाक विचारों का परिपाक है जो इस प्रकार मुसलमानी खोपड़ी में पक रहे हैं और जिसको पका रहे हैं पाकनिपुण परमकुशल गौरांग प्रभु! क्या आप नहीं जानते कि यूरोप के खिलाड़ी पश्चिमी एशिया में इस समय क्या खेल खेल रहे हैं और क्यों हमारे महाप्रभु लार्ड कर्जन यहाँ से उछलकर ईरान की खाड़ी में पहुँच गये थे और २१ नवम्बर, सन् १९०३ ई० को शारजाह में जो दरबार किया था उसमें मुसलमानों पर ब्रिटिश प्रेम का प्रदर्शन भी खूब किया था और वहाँ से लौट आने पर यहाँ भी बराबर उसी गोरी कृपा का परिचय दिया था। मानें नहीं तो करें क्या ? स्वयं नव्वाब महोदय अपने आपही लिख देते हैं—

इस वक्त कालेज की तरफ हिज़ एक्सेलेंसी लार्ड कर्जन और तमाम हुक्काम की निहायत तवज्जुह है। अगर हुजूर आलिया अपने क़ौमी कालेज पर तवज्जुह करें तो निहायत नामवरी होगी।

—मकातीब, पृ० ५६।

यह गोरी कृपा लार्ड कर्जन की अपनी नहीं अपितु गोरी सरकार की थी जो उनके उपरान्त भी बना रही और इन्हीं महेसिन मुल्क को इसके लिए एक दिन सुनना पड़ा—

'गवर्नमेंट को इस वक्त मुसलमानों को खुश रखना मजूर है। हर तरफ मुसलमानों की तारीफ का गलगला (धूमधाम) है और कालेज का नाम हर फर्द बशर (एक व्यक्ति) की जबान पर है।'

—खुतूत मुहम्मद अली मतबा जामिया, देहली, सन् १९४० ई०, पृ० १९।

मौलाना मुहम्मद अली ने १० दिसम्बर, सन् १९०६ ई० को यह पत्र उक्त नवाब साहब को लिखा था। और इसी दिसम्बर सन् ६ में लीग भी बनी।

हाँ, तो लार्ड कर्जन की गोरी कृपा मुसलमानों के हित में कोरी न थी। नहीं, उसने तो बरजोरी से 'बंग भंग' कर दिया और कम से कम बंगाल को तो 'पाकिस्तान' का मजा चखा ही दिया। परन्तु देश अभी सचेत था। कांग्रेस का होश भी अभी ठिकाने था। फिर तो वह हो हल्ला मचा कि सरकार ने उसे सन् ११ में जोड़ ही दिया। किन्तु क्या आप यह भी जानते हैं कि पाकिस्तान में इसका मातम कैसा हुआ? सुनिए, वही 'लीगी' वकारुलमुल्क साहब अपने दोस्त सैयद फजलुल रहमान साहब कानपुरी को लिखते हैं—

लेकिन बोर्डों की निस्बत गवर्नमेंट रायें सब पेश हो चुकी हैं और नतीजा आयन्दा मालूम होगा। लेकिन अब यह बिल्कुल साफ है कि गवर्नमेंट मुसलमानों को ऐसा ही बोदा समझ लिया जैसा कि गरीब (पश्चिम) वशरकी (पूर्वी) बंगाल के एलहाक (विभाजन) के मौका पर समझा तो लोकल बोर्ड का मसयला का भी खुदा ही हाफिज है। कम अज कम मुसलमानों का यह काम जरूर है कि एक मजबूत

कोशिश के साथ बतला दें कि गवर्नमेंट की तरफ से मुसलमानों के साथ यह बेनियाई मुसलमानों में निहायत मायूसाना ख्यालात के साथ देखी गयी है कि दोनों बंगाल के इत्तहाद के प्लान के साथ गवर्नमेंट ने मुतलक़ भी इसकी ज़रूरत न समझी कि साथ ही साथ मुसलमानों को इतमीनान दिलाया जाता कि उनकी तरक्कीयज़ीर हालत में और हुकूक की हिफाज़त फलाँ फलाँ ज़रिआ से की जावे। गवर्नमेंट की यह पालिसी बमंज़िला एक तोपख़ाना के थी जो मुसलमानों की मुर्दा लाशों पर से गुजर गया बुदून इस एहसास के कि इन गरीब लाशों से किसी ने कुछ जाना भी है और इनको इससे कोई तकलीफ महसूस होगी। जिसका मराको और जिसकी ट्रीपोली और कहाँ का ईरान यहाँ सिरेसे इसलाम ही का किला कपा हुआ जाता है।

तुर्कों की छीजती हुई शक्ति पर गम करना हिन्दी मुसलमानों को शोभता है पर उसी के आधार पर हिन्द को भी बोटी बोटी में बाँट लेना कहाँ का इसलाम है? यहाँ पर ध्यान देने की बात है कि जिस प्रभुता ने बंग को भंग किया वही आज हिन्द को भी भंग करना चाहती है। अंतर केवल इतना ही है कि उस समय लार्ड कर्जन को केवल अपना ही बूता था और आज सरकार को किसी 'लीग' का भी बल है। बंग की एकता तो फिर उसी सरकार की कृपा से हो गयी पर हिन्दू की एकता किस प्रकार होगी इसे कौन कहे!

अच्छा, तो यह भी प्रकट हो गया कि बंगभंग में मुसलिम हित अवश्य निहित था किन्तु वह सन् ११ में कहाँ चला गया। मुसलिम देशों की प्रगति पर ध्यान दो तो इसका भी रहस्य खुले। क्या कोई भी मुसलमानी देश इस समय ऐसा था जहाँ देश को छोड़कर 'इत्तिहाद इसलाम' का बिगुल बजाया जाता था? हाँ, यही हिन्दुस्थान तो था जहाँ के लोग सारे जहाँ को अपना वतन बताते, पर पुत्र कहीं भी नहीं पाते थे। यहाँ के इसलामी जोश को दबा देना सरकार अच्छा नहीं समझती थी और वह नहीं चाहती थी कि उसके प्रिय कालेज के छात्र भूखे रहें और 'इत्तिहाद इसलाम' का दम भरें। उसे एक ओर मुसलिम शासकों का ध्यान था तो दूसरी ओर हिन्दू जनता का। इन्हीं दोनों के बीच हिन्दी मुसलमान थे

जिनसे मनमाना काम लिया जाता था। जब एशिया में रूस का बल बढ़ा तब लार्ड कर्जन ईरान की खाड़ी तक दौड़ गये और यहाँ के मुसलमानों को भाव भरी दृष्टि से देखा; और जब रूस को पछाड़ देने से एशिया का गर्व जगा और चारों ओर प्रजा सचेत हो देशोद्धार में मग्न हुई तब लार्ड कर्जन को बंग-भंग की सूझी और हिन्द में मजहबी रंग जगा। किंतु जापान का प्रभाव एक ही पैतरे में नहीं गिर सकता था। उसको दबाने के लिए एक चने को दो दालों में बाँटना अनिवार्य था। शिमला डेपूटेशन उसी का हाथ बना और तभी से हिन्दी हिन्दू-मुसलिम रूप में सरकार में जाने लगे और अपने अपने टुकड़े के लिए लड़ने लगे। जब फिर रूस बढ़ा और जापान विजयी के रूप में प्रकट हुआ तब बंग भंग का सहारा अनिवार्य हो गया। 'लीग' भी सरकारी देखरेख में पलकर पोढ़ हो चली थी। फिर क्या था, वह भी आगे बढ़ी और उसने सारे देश को बाँट डाला। आज बंगभंग से पूरा नहीं पड़ सकता, आज तो भारतभंग से ही पेट भरेगा। और आज कांग्रेस भी वह कांग्रेस नहीं रही जो समूचे राष्ट्र को लेकर उठी थी। आज तो उसे भी 'लीग' की माँग भरनी ही होगी। फिर देश में पाकिस्तान बने चाहे हिन्दुस्थान उससे किसी 'इसलाम' को क्या लेना देना है। उसे तो बस देखना यह है—

मुसलमान होने की हैसियत से मेरे लिए इस मसलाय में भी कोई दिलचस्पी नहीं है कि हिन्दुस्तान में जहाँ जहाँ मुसलमान कसीरुल ताय-दाद (बहुसंख्यक) हैं वहाँ वहाँ उनकी हुकूमत कायम हो जाय। मेरे नजदीक जो सवाल सबसे अकदम (प्रथम) है वह यह है कि आप के इस 'पाकिस्तान' मे नजामे हुकूमत (शासन-प्रबन्ध) की अभाम खुदा की हाकिमीयत पर रखी जायगी या मगरबी नजरमाये जमहू-रियत (प्रजातन्त्र-दृष्टि) मुताबिक अवाम (सबके अनुसार) की हाकि-मियत पर ? अगर पहली सूरत है तो यकीनन् यह 'पाकिस्तान' होगा वरना बसूरते दीगर यह वैसा ही 'नापाकिस्तान' होगा जैसा मुल्क का वह हिस्सा होगा जहाँ आपकी स्कीम के मुताबिक गैर मुसलिम हुकूमत करेंगे। बल्कि खुदा की निगाह मे यह इससे ज्यादा नापाक, इससे ज्यादा मुलौवस (भ्रष्ट) व मुलौवन होगा क्योंकि वहाँ अपने

आपको मुसलमान कहने वाले वह काम करेंगे जो गैर मुसलिम कहते हैं। अगर मैं इस बात पर ख़ुश हूँ कि यहाँ रामदास के बजाय अब्दुल्लाह ख़ुदाई के मनसब पर बैठेंगे तो यह इसलाम नहीं है बल्कि निरा नेशनलिज़म है, और यह 'मुसलिम नेशनलिज़्म' भी ख़ुदा की शरीअत में उतना ही मुलीवन है जितना कि 'हिन्दुस्तानी नेशनलिज़म।'

—मुसलमान और मौजूदा सियासी कशमकश, वही, पृ० ७६।

उत्तर तो बहुत ही सरल है। सरकार की दी हुई हुकूमत में सरकार का हुक्म चलेगा और ख़ुदा की दी हुई हुकूमत में ख़ुदा का। 'पाकिस्तान' ख़ुदा का दिया हुआ होता तो वहाँ ख़ुदा का हुक्म चलता। पर नहीं, वह तो कूटनीति का दिया हुआ है और फलतः वहाँ हुक्म भी चलेगा कूटनीति ही का। किन्तु हिन्दुस्तान के विषय में यह नहीं कहा जा सकता। उस पर उसी प्रकार 'हिन्दुस्तानी' शासन होगा जिस प्रकार किसी भी देश पर देशवासियों का होता है।

'मुसलिम नेशनलिज़्म' वस्तुतः क्या है इसका हमें पता नहीं, पर इतना हम जानते अवश्य हैं कि आये दिन जो 'क़ौमी, क़ौमें!' 'क़ौमियत, क़ौमियत' का नारा बुलन्द होता है उसके पेशवा सर सैयद अहमद ख़ाँ हैं और उन्हीं की नीति का फल पाकिस्तान भी है। जानना चाहिये कि उससे पहले—

पठानों को यह इसतहक़ाक़ (अधिकार) न था कि वह मुग़लों की फ़तूहात (विजयों) पर फ़ख्र कर सकें और सादात (सैयद) इस बात का हक़ नहीं रखते थे कि बनी उमय्या या बनी अब्बास के कारनामों पर नाज़ाँ हों। इसके मज़हबी फ़िरक़ों के सिवा इख़तलाफ़ (विरोध) ने उनमें एक दूसरा तफ़रका (भेद) डाल दिया था जिसके सबब से वह राब्ता (लगाव) जो तमाम अहले क़िबला (मुसलमानों) में बसबब इत्तिहाद इसलामी के मुत्तफ़िक़ होना चाहिये बाक़ी न रहा था। तहज़ीबुल अख़लाक़ (पत्र विशेष) ने इन दोनों तफ़रक़ों के दूर करने की बुनियाद डाली और हिन्दुस्तान के लाखों मुसलमानों में कम से कम यह ख्याल ज़रूर पैदा कर दिया कि ज़ातों के तफ़रक़ा या मज़हबी तरीक़ों के इख़तलाफ़ से क़ौमी इत्तिहाद में कुछ फ़र्क़ नहीं आता

और हमारे नजदीक यह कहना कुछ ग़लत नहीं कि क़ौम व क़ौमियत व क़ौमी हमदर्दी और क़ौमी इज्जत के अल्फाज जिन वसीअ (विस्तृत) मानों में कि अब हिन्दुस्तान मे आम तौर पर बोले जाते हैं यह दरहक़ीक़त (वस्तुत.) सर सैयद ही की तहरीरों (लेखों) ने जो अव्वल सोसाइटी अख़बार में और उसके बाद तहज़ीबुल अख़लाक़ में शाया हुईं लोगों को बोलने सिखाये हैं।

—हयात जावेद, दूसरा हिस्सा, पृ० ५९।

स्वर्गीय मौलाना अल्ताफ़ हुसैन हाली के इस कथन को ध्यान से पढ़े और ज्ञान की आँख से देखें तो आप ही अवगत हो जाय कि यहाँ करोड़ों की जगह 'लाखों' का प्रयोग जान बूझकर किया गया है और 'फ़ुतूहात' तथा 'कारनामों' का प्रयोग भी कुछ दिखाने के लिए ही किया गया है। भाई ! सीधी सी बात तो यह है कि सर सैयद की 'कौम' 'खून' या 'नस्ल' या 'वतन' या 'मुल्क' से नहीं बनी है। नहीं, वह तो फ़ातेहों की फ़ौज है जिसमें शेख़ हैं, सैयद हैं मुग़ल हैं, और पठान हैं और नहीं हैं तो हिन्दुस्तानी दीन मुसलमान जिनकी संख्या लाखों नहीं करोड़ों है, पर जिनकी पूछ नहीं। और यदि है भी तो बस इतनी ही कि वह किसी प्रकार मुसलमान बने रहें और कहीं से 'हिन्दुस्तानी' न बन जायँ। उन्हीं को लेकर अब 'सर सैयद' की कौम' अलग होगी और 'हिन्दुस्तान' में न जानें किस 'पाकिस्तान' की स्थापना कर मौज उड़ायेगी। चैन की बंसी बजाना तो शायद उसके मजहब के प्रतिकूल है और है 'कौम' के दबदबा के खिलाफ भी। मौलाना अबुल आला मौदूदी ने जो 'मुसलिम नेशनलिज्म' और 'हिन्दुस्तानी नेशनलिज्म' का उल्लेख किया है उसका भी रहस्य कुछ यही है। उन्होंने हिन्दुस्तानी को 'हिन्दू' का पर्याय बनाया है और 'हिन्दुस्तानी नेशनलिज्म' का प्रयोग किया है। 'हिन्दू नेशनलिज्म' के अर्थ मे, उनके इस 'हिन्दुस्तानी' के भीतर मुसलमान क्यों नहीं आते ? क्या इसका उत्तर इसके अतिरिक्त और भी कुछ हो सकता है कि मुसलमान अपने आपको हिन्दुस्तानी नहीं समझते और फलतः सदा हिन्दुस्तानियों से दूर रहना चाहते हैं। यही नहीं, आपको कहीं भी हिन्दी मुसलिम साहित्य और ठेठ हिन्दी में 'हिन्दुस्तानी' का यही हिन्दू अर्थ दिखाई देगा। वस्तुत. है भी हिन्दुस्तानी हिन्दू का पर्याय ही,

परन्तु इधर अंगरेजों के प्रताप से 'हिन्दुस्तानी' का अर्थ कुछ फैल गया है। कभी-कभी 'मुसलमान' भी अपने को 'हिन्दुस्तानी' कह लेते हैं। सन् २०-२१ के मिले-जुले आन्दोलन में हमारे नेता प्राय: कहा करते थे कि हम पहले हिन्दुस्तानी हैं और फिर हिन्दू या मुसलमान। बात यह है कि वहीं स्वर्गीय मौलाना मुहम्मद अली ने स्पष्ट घोषित कर दिया था कि 'मैं पहले मुसलमान हूँ और फिर हिन्दुस्तानी।' बस इसी से यह विवाद चल निकला था और सर्वत्र इसकी चर्चा छा गयी थी। अन्यथा हिन्दुस्तानी का ठेठ अर्थ है हिन्दू ही, मुसलमान कदापि नहीं। और यही तो कारण है कि इस देश के मुसलमान भी आजद मुसलिम देशों में हिन्दी वा हिन्दू ही कहे जाते हैं मुसलमान कदापि नहीं और शाम में तो यहाँ के हिन्दू 'हिन्दू' भी नहीं, 'मजूसी' कहे जाते है हाँ, यहाँ के 'मुसलमान' अवश्य ही 'हिन्दू' के नाम से याद किये जाते हैं। श्री ख्वाजा गुलामसुकप्रक्लैन की साक्षी है—

यहाँ (ईराक़) में मुसलमान हिन्दुस्तान को हिन्दी या हिंदू और जमा हुनूद और हिन्दू को हुन्दू कहते हैं और शाम में मजूस कहते हैं।

—रोजनामचा सियाहत, वही, पृ० १२१।

तात्पर्य यह कि यहाँ के मुसलमान कभी यहाँ के न हुए और सदा राज करने के लिए ही यहाँ बने रहे और वतन अपना कहीं और ही समझते रहे। फलत आज भी उसी के लिए भाँति भाँति के करतब दिखा रहे हैं और देश की छाती पर कोदो दल रहे हैं। उनकी करनी को इसलाम समझना भारी भूल है। इसलाम तो आज सऊदी शासन अथवा ठेठ अरब के अतिरिक्त कहीं है ही नहीं। लीजिए न, वही मौलाना मौदूदी फिर समझाते हैं—

"अक्सरियात अफगानिस्तान, ईरान, इराक, टर्की और मिस्र में मौजूद है और वहाँ उसको वह 'पाकिस्तान' हासिल है जिसका यहाँ मुतालबा (प्रस्ताव) किया जा रहा है। फिर क्या वहाँ मुसलमानों की खुद मुख्तार हुकूमत किसी दरजा में भी हुकूमते इलाही (दैवी शासन) के क़ियाम (स्थापना) में मददगार है या होती नजर आती है। मददगार होना तो दूर किनार, मैं पूछता हूँ क्या आप वहाँ हुकूमते इलाही

। तनलीग करके फाँसी या जिला वतनी (देशनिकाला) से कम कोई ज़ा पाने की उम्मीद कर सकते हैं ? अगर आप यहाँ के हालात े कुछ भी वाकिफ हैं तो आप इस सवाल का जवाब ऐसी बात में देने ी जुरायत न कर सकेंगे। और जब सूरते हाल (वर्तमान दशा) यह ै तो आपको गौर करना चाहिये कि आख़िर इसलामी इनकलाब के ास्ता में मुसलमान क़ौमों की इन आज़ाद हुकूमतों के सद्दे राह (मार्ग- ोध) होने का सबब क्या है।

—मुसलमान और मौजूदा सियासी कशमकश, यही पृ० १०६–७।

सबब निहायत साफ नज़र आ रहा है। देखिये तो सही—

"क़ौमी तहरीक ने मशरिक में दूर रस (व्यापक) मियादी (स्थायी) तब्दीलियाँ की हैं। जगह जगह मशरिक़ वाले जमहूरियत और आज़ादी के नये दौर से दशनास (परिचित) हो रहे हैं। इसी के साथ मशरिक के समाज में बहुत कुछ रद्दोबदल (परिवर्तन) हो गया है। अन्धी तकलीद (भक्ति) और तवहहुम परस्ती (भ्रान्तिपूजा) की जगह अक्ल और क़ौम परस्ती का दौरदौरा है। मजहब जो मशरिक का तरका (दाय) और अजल (दैव) से उसकी ख़ुसूसियत रहा है अब उसकी हैसियत बदल रही है। पहले मजहब के खोल में अनगिनत और बेमेल मुल्कों और क़ौमों को ठूँस दिया गया था लेकिन अब यह सारी कौमें अपने माडल (आदर्श) के मुताबिक अपनी अपनी राह निकाल रही हैं। बिला शुबहा इनकी कौमियत में मजहब की भी गुंजायश है और जहाँ तक मजहब की उसूली बातों का ताल्लुक है वह इन पर कारमन्द (कर्मलीन) भी हैं। लेकिन वह मजहब या मजहब के अलमबरदारों (धर्मध्वजो) को अपनी क़ौमी तरक्की के रास्ते में रुकावट नहीं डालने देते। ज़बान, तमद्दुन (संस्कृति) और रहन-सहन पर उनका क़ौमी रंग ग़ालिब है और हुकूमत के इन्तज़ामात (प्रबन्ध) और कवानीन (विधान) भी अक्सर जगह मग़रिबी तर्ज पर बनाये गये हैं। आम बेदारी (व्याकुलता) में इसलामी मुमालिक (प्रदेशों) में एक ख़ुददारी (आत्मनिष्ठा)

पैदा कर दी है। उनको दुनिया से और दुनिया को उनसे रोशनास कर दिया है, वह दुनिया के आम बहाव से अलग रहने की कोशिश नहीं करते बल्कि उस बहाव का एक जबरदस्त धारा बनने के मुतमन्नी (इच्छुक) हैं।

—मुमालिक इसलामिया की सियासत, वही, पृ० १२।

अब तो यह कह देने में किसी भी मनीषी को कोई अड़चन नहीं हो सकती कि आज आजाद इसलामी दुनिया शेख जमालउद्दीन के मार्ग पर चल रही है कुछ खलीफा सुल्तान अब्दुल हमीद की राह पर नहीं। अर्थात् जमाली हो रही है कुछ हमीदी नहीं। जमाली और हमीदी का सबसे बड़ा भेद यह है कि जमाली एक ओर मिल्लत पर मरता है दूसरी ओर 'मुल्क' के लिए भी कुरबान होता रहता है, परन्तु हमीदी का ध्यान सदा शासन या सल्तनत पर ही रहता है। मिल्लत का सहारा तो उसे है पर मुल्क से उसका कोई नाता नहीं। यह तो हमारे देश के बाहर की प्रगति है। हमारे देश में इनका भी प्रसार है। परन्तु हमारा देश आज अहमदी हो रहा है। अहमदी से हमारा तात्पर्य स्वर्गीय सर सैयद अहमद खाँ बहादुर के अनुयायियों से है जिनके सामने मिल्लत और मुल्क का कोई प्रश्न नहीं, बस 'उम्मत' और कौम का पवाँरा है। सचमुच इनके वतन का ठिकाना नहीं। हाँ, मजहब से नेवरी जरूर हैं। सैयद होने के कारण यह एक ओर 'अरब' की ओर मुड़ते हैं तो 'सर' होने के नाते दूसरी ओर इंगलैण्ड की ओर लपकते हैं, पर जीने के लिए रहते हैं हिन्दुस्तान में ही। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी जीव बसते हैं जो 'दीन' के सामने 'दुनिया' को कुछ समझते ही नहीं और चारो ओर 'खुदाई' राज देखना चाहते हैं। ऐसे 'इलाही' लोगों की संख्या कम नहीं किन्तु उनकी पुकार अरण्य रोदन से कुछ अधिक महत्त्व नहीं रखती। निदान हमारे देश का भविष्य भी इन्हीं 'जमाली' 'हमीदी' और 'मजहबी' लोगों के हाथ में है। इनमें भी 'हमीदी' रंग तो उड़ चला है और बहुत कुछ धीरे-धीरे 'अहमदी' में मिलता जा रहा है पर 'जमाली' अभी अपना रंग दिखाये जा रहे हैं और गिरों की कूटनीति से परास्त नहीं होते। इन्हीं को आप जहाँ तहाँ आप 'गांधी' के साथ पाते हैं। नहीं तो 'अहमदी' दृष्टि में तो कांग्रेस परम घातक है। यहाँ तक कि मौलवी

सैयद महदी अली खाँ, नवाब मुहेसिन मुल्क को अपने हड़ताली छात्रों से बिगड़कर कहना पड़ा—

"मगर लोग समझते हैं कि तुम कांग्रेस में शरीक हो गये हो। तुम्हारे दिलों में अँगरेजों की निस्बत अच्छे ख्यालात नहीं हैं। तुम गवर्नमेंट की निस्बत अच्छे ख्यालात नहीं रखते हो। यहाँ तक कि तुम्हारी तरफ से अँगरेजों की जान पर हमला करने का खौफ पैदा हो गया है। हालाँ कि मैं जानता हूँ कि अगरेजों और गवर्नमेंट की निस्बत तुम्हारे ख्यालात ही पाक और उम्दा और शरीफाना हैं जिनका जब तक तुम्हारी निस्बत कुछ दिन पहले ख्याल किया जाता था। तुमको शर्म और रंज करना चाहिये कि आज तुम्हारी गलतियों या गलतफहमियों और गलत काररवाइयों से तुम्हारी निस्बत ऐसे गलत ख्याल पैदा हो जावें। तुमको डूब मरना और जहर खाकर मर जाना चाहिये कि तुम्हारी निस्बत लोगों को ऐसे शुबहात (शकायें) पैदा हों और तुम्हारी निस्बत ऐसे गलत ख्यालात पैदा होने से सारी कौम मुशतबहा (सशंक) हो और यह सैयद महमूद की पचाहसाला (पचासबरसी) कोशिश बरबाद जावे। अफसोस! सद अफसोस! ऐसी क्या आफत तुम पर आई और ऐसा क्या जुल्म तुम पर किसी ने किया कि तुम दीवाने हो गये हो और ऐसी तोहमतें अपने जिम्मे पैदा करते हो। तुमपर खबीसरूह (दुष्टात्मा) किसी मूजी शैतान की छा गयी है। तुम्हारी आँखें स्याह तुम्हारे कान बहरे हो गये हैं कि तुम एक बात भी नहीं सुनते।

—मकातीब, पृ० ६५।

सन् १६०५ की जिस लहर ने एशिया को सोते समय जगा और सभी देशों को सचेत कर दिया उसी का छींटा भूलचूक और अगरेज अधिकारियों के प्रमाद से यदि सन् '७' में मुहम्मेडन कालेज में पहुँच गया तो सर सैयद के खिन्न खलीफा नव्वाब मुहेसिन मुल्क बौखला उठे और विद्यार्थियों पर लानत की बौछार कर दी। बेचारी 'कांग्रेस' भी यों ही पिस गयी और जनाब सर सैयद की पाकरूह को शान्ति मिली। 'लीग' भी तो आज अपने 'आका' के इसी धर्म पर चल रही है? उसका

मजहब भी यही है। '६' में वह पैदा हुई '७' की यह बात है। यह वर्षगाँठ ठहरी !

हाँ, तो नव्वाब मुहेसिन मुल्क के 'जतन' और हिज हाइनेस सर सुल्तान आगा खाँ की कृपा से उन्हीं की देखरेख में जो 'डिपूटेशन' लार्ड मिंटो के दरबार में 'शिमला' पहुँचा और १ अक्तूबर सन् १६०६ ई० को जो गुजरानी उसका सार यही है कि—

१—अगर आबादी के उस वहसी (जंगली) और गैरमुहज्जब (अशिष्ट) हिस्सा को क़लमअन्दाज (परित्यक्त) कर दिया जाए जिसकी तफ़सील जंगली और वहशी फ़िरको के उनवान (शीर्षक) से की गयी है और नीज अगर उन फ़िर्कों को शुमार से खारिज कर दिया जाय जो आम तौर से हिन्दुओं के गरोह में शामिल किये जाते हैं, मगर फ़िल हक़ीक़त (वास्तव में) हिन्दू नहीं हैं तो मुसलमानों की निस्बत बएतबार शुमार (संख्या के विचार से) के हिन्दुओं की क़सीर जमाअत के (बहुसंख्या) के मुक़ाबले में बहुत ज्यादा हो जाती है।

२—मुसलमानों को जो दरजा अता (दान) किया जाय वह न सिर्फ उनकी तादाद से बल्कि उनकी सियासी हैसियत राजनीतिक सत्ता की अहमियत (महत्ता) व वक़अत (गरिमा) से और नीज सल्तनत की हिफ़ाजत में जो उनका क़ीमती निस्बत रखना हो। और

३—शुक्रे आखिर (अन्तिम राजशासन) पर नजर डालते वक्त हमें हुजूर का इनायत (अनुकम्पा) से उम्मीद है कि हुजूर इस अम्र को भी मलहूज खातिर (कृपादृष्टि) में आज से कुछ ऊपर एक ही सदी पहले मुसलमानों का रुतवा आवक हिन्दुस्तान में क्या था ? जिसकी याद जाहिर है कि उनके दिल से अब तक महो (लुप्त) न हुई होगी।

—मुसलमानन हिन्द की सियासत पृ० २३८ पर अवतरित।

प्रसंग में भूलना न होगा कि 'वायसराय' का मन पाकर ही यह पुण्य कार्य किया गया था। कारण कि—

सबसे ज्यादा जरूरी तहरीर आर्चबोल्ड साहब की लिखा कि वह

वाइसराय का मंशाय दरियाफ्त करें कि मुसलमानों का मेमोरियल अगर डेपूटेशन लेकर आये तो वह उसे क़बूल करेंगे। चुनांचे यह अगर तै हो गया, जैसा कि आपको आर्चबोल्ड साहब की चिट्ठी से मालूम होगा।

—मकातीब, पृ० ४५।

इतना ही नहीं अपितु और भी कोढ़ में की खाज है—

आर्चबोल्ड साहब भी एक मुसविदा डेपूटेशन के आने की दरख्वास्त का तैयार कर रहे हैं। गालबन् वह एक दो रोज़ में आ जायगा। इसे भी मैं आपके मुलाहज़ा (विचार) के लिए भेजूंगा।

—मकातीब, पृ० ४७।

इस प्रसग में कदाचित् यह कहने की आवश्यकता न रही कि शिमला डेपूटेशन क्योंकर बना और क्योंकर उसकी पूर्ति के लिए मुसलिम लीग भी जहूर में आयी किन्तु इतना तो बताना ही होगा कि आज भी उसके सामने वही प्रश्न है जो उस समय उसके सामने था। वह सचमुच आज भी उसी बल पर वही चाहती है जो उस समय चाहती थी। हाँ, आज की स्थिति में इतना परिवर्तन अवश्य हो गया है कि आज उसके नायक सर आगा खाँ नहीं, मिस्टर मुहम्मद अली जिन्नाह हैं, जिनके जीवन का कभी एकमात्र स्वप्न था,

'मेरी दिली तमन्ना (हार्दिक इच्छा) है कि मैं मुसलमानों का गोखले बन जाऊँ।'

आज संसार इस बात का साक्षी है कि वह 'मुसलमानों का गोखले' नहीं, 'गाँधी', नहीं-नहीं, कुछ और भी है। परमात्मा उसका भला करे कि 'सैयद की गद्दी' किसी 'खोजा' को तो मिली। नतीजा चाहे जो हो पर हिन्दी खून ने आखिर सैयदी खून को दबा ही लिया। वह ठेठ पाकिस्तान का शासक बना। बना तो बना। लाट पर उसके सम्बन्धी उसी के नामराशि स्वर्गीय मौलाना मुहम्मद अली का कभी कहना था—

यूनिवर्सिटी के मसयले में जिन्ना पर हरगिज़ एतबार न करना। (यह जिन्ना جناح क्यों कर दिया है ? असल में यह लफ्ज़ झीना यमानी पतला है और अँगरेज़ी में Jheena होना चाहिए था। उन्होंने इसको Jinnah कर दिया तुम जीन्ना कर दो, या जिनाह جناح बेह-

तर है कि जिन्न: جناح कर दो मगर जिन्नाह क्यों कहो) वेएतिमादी (अविश्वास) नहीं बरतता बल्कि तजरुबा (अनुभव) से मालूम हो गया कि जिन्न. की राय है कि यह मसयला ज़्यादा अहम (महत्त्व) का नहीं। जिस तरह कम्प्रोमाइज़ (समझौता) हो सके कर लिया जावे मसयले तालीम (शिक्षा के विषय) पर जिन्न. एक्सपर्ट (निपुण) की हैसियत भी नहीं रखते। कालेज के ट्रस्टी की हैसियत से वह निहायत बेतवज्जह (उदासीन) और लापरवाह रहे हैं। उसकी रवायात (प्रगतियों) में उन्हें वाक़िफ़ियत (जानकारी) न दिलचस्पी। वह पोलिटिकल मसायल में काम के आदमी हैं और वह भी कागज़ी कारंवाइयों में। —रुक़ात मुहम्मदअली, पृ० ३०१।

कागजी कारवाइयों का यह कागदी पहल्वान राजनीति के क्षेत्र में कैसा 'खूनी शेर' बना, इसे कौन नहीं जानता, पर कैसे बना, इसको बहुत से लोग नहीं जानते। अतः यहाँ बताया जाता है कि—

हिन्दुस्तान की शोमई क़िस्मत (दुर्भाग्य) से गाँधी जी महज़ (निरे) एक सियासी (राजनीतिक) ही बन न रहे। वह एक मज़हबी रहनुमा (मार्गप्रदर्शक) भी बने। हिन्दू मजहब का एहिया (सजीवन) भी उनका मक़सद (ध्येय) ठहरा। महज़ सियासी मक़ासिद (ध्येयों) नहीं बल्कि मज़हबी एतक़ाद (विश्वासों) के लिये भी उनकी ज़ात (सत्ता) मदार (आधार) बन गई। वह महात्मा बने और उनके बाज़ अहले मज़हब (कुछ धार्मिक अनुयायियों) ने उनको अवतार भी बना दिया। बनने को तो वह सब कुछ बन गये, और सच यह है कि इस मुआमिला (प्रसंग) में किसी ग़ैर हिन्दू को उनसे शिकायत नहीं होनी चाहिए। लेकिन ज़्यादती यह हुई कि एक तरफ़ तो उनको क़ौम ने हिन्दू धरम का ज़िन्दा करने वाला महात्मा औरअवतार बना दिया और दूसरी तरफ़ वह एक ऐसी जमाअत के मुख़्तार मुतलक़ (सर्वाधिकारी) और कर्त्ता धर्त्ता बने रहे जो सिर्फ़ हिन्दुओं की जमाअत न थी, बल्कि उसमें हिन्दुस्तान की ग़ैर हिन्दू क़ौमें भी शामिल थीं। और ज़ाहिर (प्रगट)

कि गाँधी जी की मजहबी शख़्सियत और उनकी गूनागूँ (विचित्र) नीम मजहबी और नीम सियासी सरगरमियाँ उन गैर हिन्दू क़ौमों के लिये वजह तसकीन (तुष्टि का कारण) न हो सकती थीं। नतीजा यह निकला कि इधर काँगरेस गान्धी जी और उनके फ़िलसफ़ा जिन्दगी (जीवन दृष्टि) यानी 'गान्धीज्म' का अमली पैकर (व्यवहारिक रूप) बनती चली गई और उधर गैर हिन्दू जमाअतें और खुसूमन (मुख्यतः) मुसलमान काँगरेस से बदज़न (सशंक) होते गये।

—मौलाना उबैद अल्लाह सिन्धी, पृ० २५७।

महात्मा गान्धी के सब कुछ बनने का परिणाम आप के सामने है। अब आप और कुछ अन्धकार में नहीं रह सकते। कारण कि कभी देशभक्ति मौलाना अबुलक्लाम 'आज़ाद' का लिखा था।

आज कोई वतनी या मुक़ामी तहरीक (क्रान्ति) मुसलमानों को फ़ायदा नहीं पहुँचा सकती। ख़्वाह वह यूनिवर्सिटी का अफ़साना ही क्यों न हो। जब तक तमाम दुनिया-ये-इसलाम (सम्पूर्ण मुसलिम संसार) में एक बैनुल् अक़वामी (अन्तर्जातीय) और आलमगीर (सार्वभौम) तहरीक नहीं होगी। ज़मीन के छोटे छोटे टुकड़े चालीस करोड़ मुसलमानों को क्या फायदा पहुँचा सकते हैं।

—मौजे कौसर, पृ० १४३ पर अवतरित।

दिल्ली के प्रसिद्ध तबलीगी नेता ख्वाजा हसन निजामी ने राष्ट्रपति मौलाना 'आज़ाद' के आदेश का कहाँ तक पालन किया, इसका कुछ पता नहीं। हाँ, इतनी जानकारी अवश्य है कि—

सन् १९१८ में जंग खतम हुई तो उसके साथ इसलाम की बैनुल् अक़वामी ताक़त (अन्तर्जातीय शक्ति) यानी तुर्की खिलाफ़त भी तक़रीबन् (प्राय) नापैद (अनहुई) हो गई। अब इसलामी हिन्द की क़यादत (अगुआई) मजबूर (विवश) थी कि अपने लिए कोई नया सियासी प्रोग्राम वज़ा (निर्मित) करे। इससे पहले यह लोग तुर्की खिलाफत को मज़बूत करके अपने लिये इस मुल्क में क़ौमी इज़्ज़त

(जातीय प्रतिष्ठा) और आज़ादी हासिल करना चाहते थे। अब हा
बदल गये थे। कुसतुनतुनिया पर इत्तहादियों (मित्रराष्ट्रों) का क
था। खलीफा दूसरों के हाथों में असीर (बन्दी) था। उस वक्त हा
जामाय (नेताओं) को खुद अपने आप की और तुर्कों की मदद क
की सिर्फ एक ही सबील (युक्ति) नजर आई और वह यह थी कि
खुद अपने मुल्क के अन्दर उस ताक़त को ज़क (हार) दें जिस ना
से तुर्कों को पामाल (नष्ट) किया है। और इसके लिये लाबुदी (अ
वार्य) था कि मुल्क की दूसरी सियासी जमाअतों से तआऊन (सयो
किया जाता। चुनाचे मौलाना महमूदुल हसन, मौलाना अबुलक्ल
'आज़ाद', मौलाना मुहम्मद अली, डाक्टर अंसारी, और हकीम अजम
खाँ और उनकी जमाअत ने काँगरेस में शिरकत (साझा) फरमाई।

—मौलाना उबैदअल्लाह सिन्धी, पृ० ३४६-४

इस 'शिरकत' का रहस्य क्या था और किस उद्देश्य से हिन्दू-मुसलिम
बना था इसका पूरा पता न लगा हो तो कृपा कर इतना और टाँक लें। उ
महानुभाव का कहना है कि—

अगर यह मुल्क आज़ाद हो गया या हिन्दू-मुसलमानों की जद्दोजह
(लड़ाई-भिड़ाई) से हुक्मरों ताकत (शासक-शक्ति) को नुकसा
पहुँचा तो लामहाला (निःसन्देह) उसका असर इराक़, फिलस्ती
हिजाज़, शाम, मिस्र, ईरान और तुर्की पर पड़ेगा, और लाज़िमी तौ
पर इन इसलामी मुल्कों से बरतानी सामराज का पंजा कुछ न कु
ज़रूर ढीला होगा। और इस तरह हम एक तरफ तो खुद अपनी, अपनी
क़ौम की, और अपने मुल्क की खिदमत करेंगे और दूसरी तरफ हमारी
इस जद्दोजहद से इसलामी दुनिया को फायदा पहुँचेगा।

—वही, पृ० ३४५

मुसलमान किस उद्देश्य से बागी बना और हिन्दू के मेल में आ गया, इसका
कुछ आभास तो आप को मिल ही गया पर अभी स्पष्ट न हुआ कि इससे पहले
हिन्दू के प्रति उसकी भावना क्या थी। तो प्रकट ही है कि इस विषय में स्वय

इसके प्रतीक और जीते जागते उदाहरण मौलाना अबुलकलाम आजाद का कहना है—

आप पूछते हैं कि—

आजकल हिन्दुओं के दो पोलिटिकल गरोह मौजूद हैं। आप उनमें से किन के साथ हैं ? गुजारिश है कि हम किसी के साथ नहीं बल्कि सिर्फ खुदा के साथ हैं। इसलाम इससे बहुत अरफा (उच्च) व आला (उत्तम) है कि उसके तैरोवो (अनुयायियों) को अपनी पोलिटिकल पालिसी क़ायम करने के लिये हिन्दुओं की पैरवी करनी पड़े। मुसलमानों के लिये इससे बढ़ कर कोई शरमअंगेज (लज्जाजनक) सवाल नहीं हो सकता कि दूसरों की पोलिटिकल तालीमों के आगे झुक कर अपना रास्ता पैदा करें। उनको किसी जमाअत में शामिल होने की ज़रूरत नहीं। वह ख़ुद दुनिया को अपनी जमाअत में शामिल करने वाले और अपनी राह पर चलानेवाले हैं, और सदियों चला चुके हैं। वह ख़ुदा के सामने खड़े हो जायें तो सारी दुनिया उनके आगे खड़ी हो जायेगी। उनका ख़ुद अपना रास्ता मौजूद है। राह की तलाश में क्यो औरों के दरवाजों पर भटकते फिरें ? खुदा उनको सरबुलन्द (उन्नत) करता है तो वह क्यों अपने सरों को झुकाते हैं ? वह ख़ुदा की जमाअत हैं और ख़ुदा गैरत (अमर्ष) इसको कभी गवारा नहीं कर सकती कि उसकी चौखट पर झुकने वालों के सर ग़ैरों के आगे भी झुकें।

—मजामीन आज़ाद, कौमी कुतुबख़ाना, लाहौर सन् १९४४ ई०, पृ०२०

कहा जा सकता है कि यह तो लाट जिन्ना की बात हुई अल्लामा आज़ाद की नहीं। निवेदन है, ऐसा कुछ नहीं हुआ। ध्यान से सुनें, आगे हुआ क्या ? यही न कि इसके ६ वर्ष बाद तुर्का का झंडा झुक गया और मौलाना अबुल कलाम आजाद को कुछ और भी करना पड़ा। अच्छा होगा, इसे भी उन्हीं के मुँह से सुन लें, बड़े भाव से कहते हैं—

दोस्तो ! मैं अपनी जिन्दगी का अगर कोई काम समझता हूँ तो वह यही है। मुझ को यक़ीन है कि मैं हिन्दुस्तान के उन इंसानों

मैं हूँ जिन्होंने इंसानों को किताब अल्लाह की तरफ़ बुलाया है। मैं अपने लिये कोई नाचीज़ ख़िदमत (तुच्छ सेवा) समझता हूँ तो वह सिर्फ़ यही है। जब मुसलमान अपने हिन्दू भाइयों से तमाम कामों में अलग थे अलीगढ़ की मुसल्लमा (पूरी) क़ौमी पालिसी यही समझी जाती थी कि वह हिन्दुओं से अलग रहें, तो मैंने दावत दी थी अगर वह हिन्दुस्तान की जिन्दगी में बहैसियत मुसलमान होने के अपने तमाम अज़ीमुश्शान फ़रायज़ (गौरवपूर्ण कर्तव्य) अंजाम देना चाहते हैं तो उनका फ़र्ज़ होना चाहिए कि इत्तफ़ाक़ (सहयोग) का क़दम बढ़ायें और बाईस करोड़ हिन्दुओं के साथ एक हो जायें। मुसलमानों के लिये ऐसा करना उनके मज़हबी अमल (धार्मिक कृत्य) में से था।

—ख़ुतबात अबुलकलाम आज़ाद, अटरिस्तान लाहौर, पृ० ५१।

मौलाना अबुलकलाम ने जिस दावत का नाम लिया है उसको और भी ठिकाने से जान लें तो कुछ स्थिति का रंग खुले। कहते हैं—

यह दूसरी मंज़िल थी जो तहरीक ख़िलाफ़त को पेश आई। ज़रूरत थी कि यह तहरीक सिर्फ़ सात करोड़ दिलों को घर न बनाये बल्कि बत्तीस करोड़ दिलों को अपना घर बनाये, यह हिन्दू भाई हमारे कन्धे से कंधा जोड़ कर खड़े हो जायें, और उनकी हमदर्दी भी इस तहरीक में शामिल हो जाये। इसलिये नहीं कि फ़ी० उल्० हक़ीक़त (वस्तुत:) मुसलमानों के मतालबात (प्रयोजनों) की कामयाबी (सफलता) इस चीज़ पर मौक़ूफ़ (निर्भर) थी कि हम अपने भाइयों को इस मदद की ज़हमत (व्यथा) देते बल्कि हम में से हर श़ख्स जिसके दिल में ईमान मौजूद है उसको यह यक़ीन (विश्वास) होना चाहिए कि इस दुनिया में किसी मक़सद (ध्येय) की कामयाबी महज़ इन्सानी की तादाद (संख्या) पर मौक़ूफ़ नहीं है बल्कि हर तहरीक की कामयाबी ईमान और अमल की ताक़त पर मौक़ूफ़ है।

इससे पहले बार बार मैं एलान कर चुका हूँ और आज भी एलान करता हूँ कि दर हक़ीक़त (वास्तव में) इस मक़सद की कामयाबी के

लिये हिन्दुस्तान के किसी रकबा (क्षेत्र) में किसी एक भाई को हम इस अम्र (कार्य) अहमत देने के लिये मजबूर (विवश) न थे कि यह उसको मदद देता। अगर मुसलमान कामयाबी हासिल कर सकते थे तो अल्लाह पर एतमाद (विश्वास) कर के, अल्लाह की नुसरत (अनुकंपा) पर, अपने ईमान पर एतमाद करके। लेकिन बिला शुबहा जब कि यह मसयला की सूरत का यह हाल था तो उसके साथ ही इस अम्र की ज़रूरत थी कि तहरीक ख़िलाफ़त के ज़मन (प्रसग) में खुद हिन्दुस्तान का मसयला हल नहीं हो सकता था। जिस वक़्त तक मुल्क में कोई आम तहरीक (सब की हलचल) पैदा नहीं होती। और फी० उल० हकीकत (वस्तुत) तहरीक ख़िलाफ़त की कामयाबी में एक खूबी यह है कि उसने ऐसे ताक़तवर (शक्तिशाली) हगामे (संघर्ष) के साथ कुल हिन्दुस्तान के मसयला को ज़िन्दा कर दिया कि जो चालीस साल की कोशिश से हिन्दुस्तान को न मिला था।

—खुतबात अबुलकलाम आजाद, वही, पृ० ४०-१।

'ख़िलाफ़त' को लेकर जो एकता बनी थी वह कहाँ चली गई और क्यों चली गई, इसका भी उत्तर यहीं है, पर उसका समझना कुछ कठिन है। कारण कि आपका अपने पर विश्वास नहीं। परन्तु तो भी बताया जाता है कि मौलाना अबुलकलाम के विचार से बादशाहत के चले जाने पर हिन्द के मुसलमानों के लिये दो ही मार्ग थे—पलायन या परित्राण। उन्हीं की वाणी में—

मुसलमानाने हिन्द के लिये सिर्फ़ दो ही राहें थीं और अब भी सन् १९२१ ई० दो ही राहें हैं या तो हिजरत कर जायें या नज़्मे जमाअत (संघ प्रबन्ध) क़ायम करके अदाय फ़र्ज़ मिल्लत (जाति के क्रिया-कर्म के पालन) में काशाँ हों।

—वही, पृ० ११७।

हिजरत करना या कहीं जा बसना तो संभव नहीं, फिर करें तो क्या करें? मौलाना अबुल कलाम ने इसका मार्ग भी सुझा दिया था और कुछ ही पहले बता दिया था कि जब 'ख़िलाफ़त' से नाता जोड़ना कठिन था तब 'अपने लिये एक नायब अमीर यो इमाम मुंतख़िब कर लेते' और अपने धर्म-कर्म के पालन-पोषण

में प्रयत्नशील होते। कहा नहीं जा सकता कि आज के अमीर जिन्ना इसकी पूर्ति करेंगे या नहीं पर अवश्य ही लाट जिन्ना है इसी सूत्र के परिणाम। ध्यान देने की बात यहाँ यह है कि गत ३५ वर्षों में मौलाना अबुल्कलाम की जो विधि र. है वह सदा मुसलिम एका को आँख में रख कर ही चलती रही है। उसक सच्ची सफलता भले ही न हुई हो, पर कौन है जो हृदय पर हाथ रख कर सचाई के साथ कह सकता है कि खोजा मुहम्मद अली जिन्ना का 'खलीफा' मुहम्मद अली जिन्नाह बन जाना 'खिलाफत' का परिणाम नहीं है? कारण जो हो, पर स्थिति यह है कि यह खलीफा अपने को 'हिन्दुस्तानी' भी नहीं कहता फिर 'हिन्द' से उसका नाता क्या? क्या कहा जा सकता है कि इसलामी दुनिया में जो सदा सिन्ध हिन्द से अलग रहा है उसी का यह दु:खद परिणाम है? जो हो, जिन्ना इसलाम के जान कार नहीं, पाकिस्तान के इमाम हैं। इसलिये आज हम उनकी चर्चा नहीं करते। हाँ, इसलाम के परम पंडित अल्लामा अबुल्कलाम आजाद की इस घोषणा पर अभिमान अवश्य करते हैं—

आज अगर एक फरिश्ता आसमान बदलियों में से उतर आये और देहली के कुतुबमीनार पर खड़े हो कर यह एलान कर दे कि स्वराज चौबीस घंटे के अन्दर मिल सकता है, बशर्ते (बन्धेज) कि हिन्दुस्तान हिन्दू मुसलिम इत्तहाद (एकता) से दस्तबरदार (विरक्त) हो जावे तो मैं स्वराज्य से दस्तबरदार हो जाऊँगा, मगर इससे दस्तबरदार न हूँगा। क्योंकि अगर स्वराज्य के मिलने में ताखीर (देर) हुई तो यह हिन्दुस्तान का नुक्सान होगा, लेकिन अगर हमारा इत्तहाद जाता रहा तो यह आलमे इसानियत (मनुष्य-ससार) का नुक्सान है।—वही, पृ० २९७।

पता नहीं, हिन्दू-मुसलिम एकता का क्या हुआ परन्तु प्रत्यक्ष है कि कोई 'हिन्दुस्तान' टुकड़ों में बँट गया और हमारे नेता हार मान कर उसी बदली-उतर कुतुबमीनारी फरिश्ता के कहने में आ गये। मुसलमान का पाकिस्तान बन गया। पता नहीं, अब वह हिन्दुस्तान में क्या करेगा? हिजरत तो वह कर नहीं सकता। तो क्या फिर वह किसी 'नायब अमीर' या 'इमाम' की चिन्ता में लगेगा और हिन्दू-मुसलिम इत्तहाद का फिर ऐसा ही पाठ पढ़ावेगा? समय! धम!! सावधान!!!